विद्यापति

+

डॉ. शिवप्रसाद सिह

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
वाराणसी-१

'उदास गण्डकी' की मूक लहरों को
कवि विद्यापति की स्मृति में

विषय-सूची

व्यक्तित्व-विश्लेषण

ईस्वी सन् १००० से १२०० तक का भारतीय साहित्य नाना प्रकार की परस्पर-विरोधी भावधाराओं का संगम-स्थल हो गया था। विदेशी आक्रमण ने न केवल देश के शासन को नष्ट-भ्रष्ट किया; बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक-स्थिति में भी भयंकर तब्दीली पैदा कर दी। यह परिवर्तन बहुत स्थूल और स्पष्ट नहीं था। बाढ़ के पानी की तरह विदेशी संस्कृति के बहुत से तत्त्व भारतीय संस्कृति में घुलमिल गए, इससे न केवल सामाजिक भूमि में ही परिवर्तन आया बल्कि अपरिचित भावधारा के इस आक्रमण के कारण देशीय संस्कृति को कई रूपों में 'स्वरक्षा' के लिए अपने को संकुचित करना पड़ा। वैसे भी यह काल भारतीय मनीषा का कुंठा-काल ही था। सामन्तवादी संस्कृति इतनी क्षयिष्णु थी कि उसमें नवजीवन का संचार असंभव हो गया था। स्थापत्य, चित्रकला, साहित्य और संगीत के अन्दर जीवनीशक्ति का स्थान चमत्कारिता और कुतूहल-वर्धक कलाकारिता ने ले लिया था। साहित्यकार का दर्जा जीवन के द्रष्टा का नहीं, रासायनिक का हो गया था, जो प्राणहीन सामन्तों के मन में कामेच्छा उत्पन्न करने के लिए दोहे और गाथाओं की गोलियाँ देते थे। विदेशी आक्रमण ने इन अड्डों को सदा के लिए उखाड़ कर फेंक दिया। घुन लगे मन के ये जर्जर जीव स्वयं नष्ट हो जाते, इसमें शक नहीं किन्तु विदेशी आक्रमण ने इस विनाश को थोड़ा और तीव्र कर दिया। दर्शन और धर्म के स्थान पर तंत्र-मंत्र, टोना-टटका और गुह्य साधनों की प्रधानता हो गई थी। इन भयोत्पादक चमत्कारों के प्रति जनता की श्रद्धा समाप्त होने लगी थी। भक्ति-आन्दोलन ने इस गुहा-गह्वर के चमत्कारिकों को एकदम उखाड़ फेंका। अपभ्रंश साहित्य के अध्येता के लिए

यह निर्णय करना बड़ा कठिन हो जाता है कि जहाँ इस प्रकार की कुंठा-ग्रस्त प्रवृत्ति का आधिपत्य था, साहित्यकार मुट्ठी भर दरबारियों के मनोरंजन को कविकर्म की इयत्ता समझ रहे थे, चित्रकार कामकला और विविध आसन-मुद्राओं के चित्र खींचने में ही मस्त थे, वहाँ अपभ्रंश में एकाएक इस तरह का जीवन्त, नवीन प्राणवान भावनाओं से स्फुरित और मानव मन की सरल सस्मित अनुभूतियों से अनुरंजित साहित्य कैसे लिखा जाने लगा। इस सत्य को समझने के लिए हमें इस काल के जन-जागरण को देखना होगा जो सामन्ती संस्कृति से आक्रान्त होकर सभ्यता से वंचित-उपेक्षित जीवन बिता रहा था, जो संक्रमणकालीन परिस्थितियों में अपनी स्थिति के प्रति पुनः जाग्रत हुआ और एक नये वातावरण की सृष्टि करने में सफल हुआ। भक्ति-आन्दोलन इस नवीन पुनर्जागरण का परिणाम था। इसे मुट्ठी भर सामन्तों का नहीं, एक विशाल जन-समूह का संरक्षण प्राप्त था। विद्यापति इस नवीन जन-जागरण के चारण हैं। वैसे तो १४वीं शताब्दी से १६वीं तक का साहित्य अनेक प्रभादीप्त व्यक्तियों के समवेत आविर्भाव से गौरवान्वित हुआ है—बंगाल में चण्डीदास, असम में शंकरदेव, मध्यदेश में कबीर, तुलसी, सूर, राजस्थान में मीराँ, गुजरात में नरसी मेहता इस जागरण के सन्देश-वाहक हैं, किन्तु विद्यापति का व्यक्तित्व कुछ निराला है। यह सत्य है कि संसार के किसी भी साहित्य में एक साथ इतनी महत् प्रतिभाएँ एकत्र शायद ही दिखाई पड़ें, इनमें सबका व्यक्तित्व महान् है, 'को बड़ छोट कहत अपराधू', किन्तु जहाँ तक व्यक्तित्व का सवाल है मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि विद्यापति की तरह स्वच्छन्द, गत्वर, रोमेण्टिक, व्यक्तित्व किसी और का नहीं था।

व्यक्तित्व किसे कहते हैं? कवि के अध्ययन में इस व्यक्तित्व का क्या महत्व है आदि प्रश्नों पर मैं विस्तार से विचार करना नहीं चाहता, और न तो यहाँ आवश्यक ही है; किन्तु थोड़े में इतना जरूर कहना चाहूँगा कि व्यक्तित्व कवि का वह गुण है जो अज्ञात रूप से उसके साहित्य की उन तमाम वस्तुओं के लिए जिम्मेदार है जो दूसरों के साहित्य में नहीं मिलतीं। व्यक्तित्व नाना प्रकार की विशेषताओं का वह सजीव

पुञ्ज है जो एक व्यक्ति को हजारों से अलग करता है। व्यक्तित्व वह रासायनिक प्रक्रिया है जो किसी व्यक्ति की सम्पूर्ण उपलब्धि को 'वह' बनाती है, जो वह है। किसी कवि के व्यक्तित्व का मतलब दो प्रकार से स्पष्ट होता है। पहला उस कवि की आत्माभिव्यक्ति और दूसरा उसके निर्मित चरित्रों, मनःस्थितियों में उसकी आत्मा की छाया। कोई कवि या लेखक अपने व्यक्तित्व को अपनी कृति से या तो पूर्ण अलग करेगा या उसमें अन्तर्निहित कर देगा। किन्तु व्यक्तित्व को अलग करके भी उसे अपने चरित्रों के माध्यम से अपने को व्यक्त करना पड़ेगा। इस प्रकार का विवाद वस्तुतः रोमेण्टिक काव्यधारा के साथ ही उपस्थित हुआ। रोमेण्टिक कवि अपने साहित्य में अपने व्यक्तित्व को प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति देता है। उदाहरण के लिए फिल्डिंग ने अपने व्यक्तित्व को अपने चरित्रों के माध्यम से व्यक्त करने को वस्तु बनाया, यानी चरित्रों के माध्यम से अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति दी, जबकि रोमेण्टिक ह्यूगो ने अपने को चरित्रों में निक्षिप्त कर दिया। इसी के आधार पर लेखकों में वस्तुनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ दो श्रेणियाँ बन जाती हैं। प्रथम प्रकार के लेखक यानी वस्तुनिष्ठ अपने व्यक्तित्व को मूल विशेषताओं को भिन्न-भिन्न चरित्रों के माध्यम से तटस्थ होकर व्यक्त करते हैं जबकि व्यक्तिनिष्ठ लेखक एक ऐसा केन्द्रीय चरित्र प्रस्तुत करता है जो उसका प्रतिनिधि होता है, जो लेखक के मनोभावों को उसी प्रकार स्पष्ट करता है जैसे शीशा दर्शक के चेहरे की हर रेखा को हूबहू व्यक्त कर दिया करता है। जो भी हो, दोनों प्रकार के लेखकों के साहित्य को समझने के लिए उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। व्यक्तित्व आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की विशेषताओं—जिनमें अच्छी-बुरी सारी बातें शामिल हैं, का मिश्रित रूप है। यह इनका योग-फल नहीं है बल्कि इन सबके मिश्रण से बनी एक ऐसी सजीव वस्तु है जो किसी व्यक्ति को उसकी अलग इकाई कायम रखने में सहायता देती है, अर्थात् उसे 'वह' बनाती है जो 'वह' है। इसमें व्यक्ति के सामाजिक, पारिवारिक, व्यावसायिक, धार्मिक, वैयक्तिक जीवन का हर पहलू शामिल है। उसके जीवन के प्रेरणा-स्रोत,

उसकी रुचियाँ, संस्कार, संसर्ग, प्रवृत्ति, आमोद, प्रेम, आचार-विचार, व्यवहार, यहाँ तक कि उसका खान-पान, रीति-रिवाज, सब कुछ ज्ञातव्य है, क्योंकि इन सबसे मिलकर उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। गुण और दोष दोनों शक्कर और तेजाब की तरह एक ही स्थान से पैदा होते हैं। हिपोलाइते टेन ने व्यक्तित्व के निरीक्षण में तीन वस्तुओं को आवश्यक बताया है—कवि या लेखक का वंश-परिवार, पारिपार्श्विक परिस्थितियाँ और उस युग की विचारधारा तथा विश्वास।

विद्यापति का व्यक्तित्व नाना प्रकार की परस्पर विरोधी विचार-धाराओं का स्तबक है। इस व्यक्तित्व में इस प्रकार का परस्पर विरोध सम्भवतः उस युग का परिणाम है जिसमें विभिन्न प्रकार की देशी-विदेशी सांस्कृतिक विचार-धारायें संघर्ष-रत थीं। विद्यापति वस्तुतः संक्रमण काल के प्रतिनिधि कवि हैं। वे दरबारी होते हुए भी जन-कवि हैं, शृंगारिक होते हुए भी भक्त हैं। शैव या शाक्त या वैष्णव कुछ भी होते हुए भी वे धर्म-निरपेक्ष हैं, संस्कारी ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होने पर भी विवेक-संत्रस्त या मर्यादावादी नहीं हैं। इस प्रकार विद्यापति का व्यक्तित्व अत्यन्त गुम्फित और उलझा हुआ है—यह नाना प्रकार के फूलों की वनस्थली है, एक फूल का गमला नहीं। विद्यापति का व्यक्तित्व मिथिला की उस पृथ्वी की उपज है जिसमें धान की यौवनपूर्ण गंध और आमों के बौर की महक है। वह मिथिला जिसके स्वर्णगर्भित अंचलों में वाग्मती, कमला, गंडक और कोसकी की धारायें निरन्तर प्रवाहित हैं, जहाँ की काली अमराइयाँ नील मेघों से ढँकती हैं और शारद चन्द्र की चाँदनी से सुधास्नात होती रहती हैं, वह मिथिला जो तर्क-कर्कश पण्डितों के न्याय-शास्त्रीय वाद-विवादों और युवतियों के प्रेम-गीतों को एक साथ अपने हृदय में सुलाये रहती है।

विद्यापति संस्कारी ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होने पर भी तुलसीदास की तरह विवेक-संत्रस्त और मर्यादा से भाराक्रान्त नहीं थे। उन्हें अपने ब्राह्मणत्व पर गर्व था। कीर्तिसिंह की प्रशंसा में उन्होंने गर्व के साथ

कहा था कि राजा और ब्राह्मण एक शरीर में एकत्र कम होते हैं, कीर्त्तिसिंह भूपति हैं और साथ ही भू-देव—

ओइनी वंस पसिद्ध जग को तसु करइ न सेव
दुहु एकत्थ न पाविअइ भुअवइ अरु भूदेव

विद्यापति मिथिला के एक सम्पन्न ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए जो अपने विद्या-प्रेम के लिए विख्यात था। कर्मादित्य, देवादित्य जैसे पूर्व पुरुष न केवल विद्वान थे बल्कि अपने समय के उच्च शासनाधिकारी भी थे। डॉ० सुभद्र झा ने लिखा है कि 'विद्वानों के ऐसे यशस्वी परिवार में विद्यापति का जन्म हुआ, जो अपने परम्परागत विद्या-ज्ञान के लिए प्रसिद्ध था। कवि की रचनाओं में इस परम्परा का पूर्ण प्रतिफल दिखाई पड़ता है।'[1] विद्यापति धर्म-दर्शन, भूगोल, न्याय आदि के प्रकाण्ड पंडित थे। शिवसिंह के आदेश पर लिखे हुए पुरुष-परीक्षा ग्रन्थ में विद्यापति ने लिखा है :

यो गौडेश्वरगज्जनेश्वर रणक्षौणीसु लब्धा यशो
दिक्-कान्ताचय-कुन्तलेषु नयते कुन्दस्रजामापदम्
तस्य श्रीशिवसिंह देव नृपतेर्विज्ञप्रियस्याज्ञया
ग्रन्थं ग्रंथित दण्डनीतिविषये विद्यापतिव्यातनोत्

विद्यापति ग्रंथिल दण्ड-नीति में भी पारंगत थे। संस्कृत भाषा पर उनका कितना अधिकार था, इस ग्रन्थ को देखने से पता चलता है। विद्या, ज्ञान और ब्राह्मण-परम्परा सब कुछ उन्हें दायरूप में मिली थी। किन्तु इस प्रकाण्ड ज्ञान ने उनके हृदय के भाव-स्रोत को सुखाया नहीं, उन्हें भव-विमुख नहीं किया। न तो उन्हें संसार अनित्य, मिथ्या और बुद्बुद् की भाँति प्रतीत हुआ। ब्राह्मणत्व कभी-कभी जोश पर भी आता था, खास तौर से मुसलमानों के आक्रमण के समय विजेताओं की संस्कारहीन प्रवृत्तियाँ और कुरुचिपूर्ण रीति-रिवाज उन्हें क्षुब्ध कर देते थे। कीर्तिलता में मुसलमानों के इस व्यवहार की उन्होंने बड़ी तीव्र भर्त्सना की है :—

---

1. Songs of Vidyapati—Page 20.

अति गह सुमर षोदाए खाए ले भांग क गुंडा
बिनु कारणहि कोहाए बएन तातल तम कुंडा
तुरुक तोषारहिं चलल हाट ममि हेडा चाहइ
आडी दीठि निहार दबलि दाढ़ी थुक बाहइ (२।१७४-७७)

कपूर के समान शुद्ध भोजन को तिरस्कृत करके प्याज-लशुन खाने वाले इन तुर्कों के कार्यों से विद्यापति को नफरत थी, क्योंकि वे जबर्दस्ती ब्राह्मण बटुक को पकड़ लाते थे और उनके शिर पर गाय का शोरवा रख देते थे। कसाइयों और कब्रों से धरती पट गई थी। कहीं पैर रखने की भी जगह न बची :

धरि आनए बामन बटुआ, मथा चढ़ावए गायक चुडुआ
फोट चाट जनेऊ तोर, ऊपर चढ़ावये चाह घोर
गोर गोमर पुरिल मही, पैरहु देना एक ठाम नहीं
हिन्दू बोलि दुरहि निकार, छोटओ तुरुका भमकी मार
(२।२०२-११)

विद्यापति को अपनी प्रतिभा पर विश्वास था इसीलिए उन्हें अपनी कवित्व-शक्ति और विद्या-बुद्धि पर अभिमान था। कवि के लिए अभिमान (Ego) भूषण है यदि वह दूसरे का अहित करने वाला न हो। कवि अपने को संसार का जीव समझते हुए भी संसार से तटस्थ और साधारण जनों से थोड़ा भिन्न तथा ऊपर उठा हुआ समझता है। कबीर की अभिमानपूर्ण उक्तियों से घबरा कर लोग उन्हें गर्वीला कहते हैं। शुक्ल जी ने लिखा है कि कबीर अपने श्रोताओं पर यह अच्छी तरह भासित करना चाहते थे कि हमने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है। इसी से वे प्रभाव डालने के लिए बड़ी लम्बी-चौड़ी गर्वोक्तियाँ भी कहा करते थे।[1] किन्तु यह रोग कबीर का अकेला नहीं है। जाने कितने कवि और साहित्यकार इस प्रवृत्ति के शिकार हैं। किन्तु यह रोग नहीं, कवि की ओर से उन तमाम कष्टों और साधनों का प्रतिकार है जिनके

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ७९।

बाद भी उसे संसार से प्रतिदान नहीं मिलता। इसलिए यह अभिमान कभी-कभी प्रतिक्रिया से भी उत्पन्न होता है। वैसे साधारण तौर से यह कवि के मन के आत्मविश्वास का ही द्योतक है। कबीर का आत्म-विश्वास उस समाज की प्रतिक्रिया थी जो तथाकथित उच्च जातियों से आक्रान्त था। कबीर के मन में हीनता की ग्रन्थि न थी 'इसीलिए यह विश्वास उनमें इतनी अधिक मात्रा में था कि कभी-कभी पंडितों को इसमें गर्वोक्ति की गंध आती है, उनमें युगप्रवर्तक का विश्वास था और लोक-नायक की हमदर्दी।'[१]

विद्यापति का आत्मविश्वास दूसरे प्रकार का था। वे हीनता-ग्रन्थि के शिकार होने की आशंका भी नहीं कर सकते थे, इसीलिए कबीर की तरह अतिरिक्त आत्मविश्वास या गर्वोक्ति भी उनमें नहीं है। उनका आत्मविश्वास स्वतःचालित था। दरबारों में रहनेवाले कवियों में ईर्ष्या-द्वेष की भावना रहती ही है। नवयुवक विद्यापति का इतनी चमत्कारिक प्रतिभा के साथ आगमन ईर्ष्या का विषय रहा होगा। कीर्तिलता में उन्होंने लिखा है :

महुअर बुज्झइ कुसुम रस कव्व कलाउ छइल्ल
सज्जन पर उअआर मन दुज्जन नाम मइल्ल। (१।१७-१८)

किन्तु इन दुर्जनों से विद्यापति को किंचित् भी आशंका नहीं थी क्योंकि द्वितीया का चन्द्र कभी कलंकित नहीं होता, वह सदा ईश-मस्तक पर ही सुशोभित होता है :

बालचन्द बिज्जावइ भासा
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा
ओ परमेसर हर सिर सोहइ
ई णिच्चइ नायर मन मोहइ

विद्यापति मध्यकालीन कवि श्रीहर्ष की तरह एक ओर न्याय के ग्रंथिल पथ पर विचरण करते थे तो दूसरी ओर प्रेम की कुसुम-सज्जित

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ९६।

बीथियों में। उनके लिए दोनों में कोई अन्तर नहीं था। उन्होंने सुकुमार साहित्य भी लिखा और 'दृढ़ न्याय ग्रह ग्रंथिल' पथ पर भी चले। भारती उनकी पति-परायणा पत्नी की तरह थी, जो उनके साथ "दर्भांकुरन्यस्त भूमि" पर या "मृदूत्तरच्छदवती शय्या" पर समान रूप से बिहार करती थी। विद्यापति ने सरस्वती की वन्दना में एक श्लोक लिखा है, जिससे उनके मन के इस भाव की पुष्टि होती है—

द्वाः सर्वार्थसमागमस्य रसनारंगस्थली नर्तकी
तत्त्वालोकन-कज्जलध्वजशिखा वैदग्ध्यविश्रामभूः
श्रृंगारादिरसप्रसाद-लहरी स्वर्ल्लोक-कल्लोलिनी
कल्पान्तस्थिरकीर्तिसंभ्रम-सखी सा भारती पातु वः।

(१।३)

उन्होंने अपनी कविता के बारे में कीर्तिलता के अन्तिम श्लोक में कहा है

माधुर्यप्रसवस्थली गुरुयशो-विस्तार शिक्षासखी
यावद्विश्वमिदंच खेलनकवेर्विद्यापतेर्भारती

विद्यापति की भारती माधुर्य-रस की प्रसवस्थली है। भारती उनकी रसना पर निरन्तर नर्तकी की तरह क्रीडा किया करती है, वह सभी प्रकार के अर्थों के लिए द्वार-रूपा है। एक तरफ उसके प्रकाश में गूढ़ तत्त्वों का आलोकन होता है, दूसरी ओर वह विलास-विदग्ध जनों के लिए विश्राम स्थल भी है।

विद्यापति दरबारी कवि थे। दरबारी कवि होना कोई बहुत अच्छी बात नहीं मानी जाती। मध्ययुग के दरबारी कवियों के प्रति हमारे मन में श्रद्धा का प्रायः अभाव पाया जाता है क्योंकि हम यह मानते हैं कि इस प्रकार के कवियों ने कविता को जन-मानस की अधीश्वरी के स्थान से हटाकर उसे दरबार की नर्तकी बना दिया। उन्होंने काव्य के महत् उद्देश्य के साथ व्यभिचार किया; किन्तु विद्यापति इनसे भिन्न हैं। दरबारों के चाकचिक्य, भोग-वैभव और दमघोंट वातावरण में उनकी आत्मा मरी नहीं। दरबारों से उन्होंने जीवन का रस ग्रहण किया।

उस वातावरण से उन्होंने कई प्रकार के अनुभव प्राप्त किये जिनसे उनके जीवन में एक विशेष प्रकार का अभिजात संस्कार पैदा हुआ। उन्होंने कभी भी अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए अत्युक्ति की शरण न ली, कवियों के लिए उस समय राजा के अलावा दूसरा आश्रय भी कहाँ था ? वे अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त की तरह यह नहीं कह सके कि वल्कल धारण करके गिरि-कन्दराओं में निवास करते हुए, वन के फल-फूल खाकर दारिद्र्य से शरीर को कष्ट देकर जीवन बिता देना श्रेयस्कर है पर किसी राजा के सामने नतमस्तक होकर अभिमान का खंडन कराना नहीं :

वक्कल निवसणु कंदर मंदिरु, वण हल भोयन वर ते सुन्दर
वर दालिद्द सरीरह दंडन, णहि पुरिसह अभिमान विहंडणु

किन्तु दरबारों में रहते हुए भी विद्यापति ने इस अभिमान को कभी बेचा नहीं, कीर्तिसिंह को बार-बार स्वाभिमान की चेतावनी देते हुए जैसे विद्यापति अपने मन के गौरव को ही जाग्रत किया करते हैं :

मान बिहूना भोअना सत्तुक देभेल राज
सरन पइट्ठे जीअना तीनू कायर काज

आश्रयदाता राजा को विपन्नता में उन्होंने आश्वासन दिया, इब्राहिम शाह से साहाय्य-याचना करनेवाले राजा के आश्रित कवि होकर भी उन्होंने मुसलमानी अत्याचार को शिरसा स्वीकार नहीं किया, तत्कालीन बादशाह के शासन की दुर्व्यवस्था का उन्होंने नग्न चित्रण प्रस्तुत किया। दरबार में विद्यापति का सम्मान भी कम न था, वे कीर्तिसिंह के केवल आश्रित कवि नहीं, मित्र भी थे। शिवसिंह के शासन-काल में कवि को जो सम्मान मिला वह अभूतपूर्व था। विद्यापति ने अपने जीवन-काल में न जाने कितने राज बनते-बिगड़ते देखे थे। उन्होंने देखा था कि विपत्ति की आँधी में बड़े-बड़े पेड़ कैसे उखड़ते हैं। /विद्यापति दो दर्जन के करीब राजाओं, नवाबों आदि के आश्रय में रहे। सम्पूर्ण जीवन राजदरबारों में बिता देनेवाले विद्यापति ने अपने कृतित्व को कभी भी दरबारी छाया से कलंकित नहीं किया। उनके गीतों में दरबारी संस्कृति की नहीं, जनता

के मानस की आवाज है। उन्होंने राधा-कृष्ण के प्रेम में सामान्य जनता के सुख-दुख, मिलन-विरह को अंकित किया है। वे एकाधिक रानियों, राजकुमारियों के सम्पर्क में आये। दरबार के क्रिया-कलाप को नजदीक से देखा। असली सौन्दर्य वहाँ उपेक्षित था, बाह्य रूप की पूजा होती थी। विद्यापति ने उस सौन्दर्य को भी देखा था जो दरबारों में एकत्र किया जाता है। उन्होंने उस सौन्दर्य को उसकी असली पृष्ठभूमि प्रदान की, उसे धरती पर उतार कर रखा, उसे चहारदीवारी के घेरे से निकाल कर नदी-तट, अमराइयों और खेतों में प्रतिष्ठित किया। कीर्तिलता में दरबार के वर्णन बड़ी बारीकी से चित्रित हैं। नगर के वर्णन, वेश्याओं के वर्णन, उनकी सूक्ष्म दृष्टि के परिचायक हैं। किन्तु विद्यापति का मन जैसे इस वातावरण में सन्तुष्ट नहीं है, वह कुछ और खोजता रहता है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि विद्यापति दरबारी कवि होते हुए भी जन-कवि हैं। उन्होंने अपनी कविता में इन दोनों भावधाराओं का समन्वय कर दिया है। आप विद्यापति को हिन्दी रीतिकालीन कविता का जन्मदाता भी कह सकते हैं, नखशिख वर्णन में विद्यापति की उक्तियाँ अनमोल हैं, परवर्ती रीतिकाल के कवियों के वर्णन इनके सामने पिष्टपेषण लगें तो आश्चर्य नहीं। विद्यापति को दूसरी ओर भक्तिकाल का पहला कवि भी कह सकते हैं क्योंकि उनकी कविता में जन-मानस का प्रतिफलन है—वह जन-मानस जो उस युग में भगवान् की सगुण और निर्गुण विभूतियों के सामने अपने हृदय का अनन्य प्रेम नाना रूपों में निवेदित कर रहा था।

विद्यापति सौन्दर्योपासक कवि थे। सौन्दर्य को उन्होंने देखा था, अनुभव किया था। वे सौन्दर्य के वायवी रूप के प्रति आकृष्ट होनेवाले रहस्यवादी नहीं थे। वे सौन्दर्य को बिल्कुल साक्षात् स्थूल रूप में देखने के अभ्यासी थे। सौन्दर्य उनके लिए सबसे बड़ा धर्म है, सबसे बड़ा कर्म। सौन्दर्य उनकी आँखों के सामने नाना रूपों में आता है, और विद्यापति सौन्दर्य के स्वागत में निरन्तर जागरूक दिखाई पड़ते हैं। वस्तु का गुण वस्तु में नहीं वस्तु को पहचाननेवाले की आँखों में निहित होता है।

विद्यापति के पास वह आँख थी, वस्तु के रूप को परखने का अणुवीक्षण यंत्र था उनके पास, जिसकी सीमा में आकर रूप का एक अणु भी उनकी दृष्टि से बच नहीं सका। सौन्दर्य को वे अपरूप कहते थे—अपरूप जो मनुष्य के मन में पुलक, प्राणों में शक्ति और शरीर में रोमांच भर दे। अपरूप एक ऐसी ताकत है जो सम्पूर्ण विश्व के अणु-परमाणु में चेतना का संचार करती है। इस सौन्दर्य की सबसे बड़ी विशेषता है चिर नूतनता। प्रत्येक क्षण यह सौन्दर्य नूतन बेश में आता है। विद्यापति कहते हैं, मैं जाने कितने जन्मों तक तुम्हारे इस रूप को देखता रहा, पर आँखें तृप्त नहीं हुईं—

सखि कि पूछसि अनुभव मोए
से हो पिरित अनुराग बखानिए
तिल तिल नूतन होये
जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन न तिरपित भेल
सेहो मधु बोल स्रवनहिं सूनल
स्रुति पथ परस न भेल

जो लोग विद्यापति के नखशिख वर्णन को शृंगार की आसक्ति का परिणाम मानते हैं वे भूल जाते हैं कि सौन्दर्य का उपासक कवि सौन्दर्य का भोक्ता नहीं निर्माता भी होता है। वह शारीरिक सौन्दर्य को आँखों की वस्तु मानता है किन्तु हृदय को तृप्त करने के लिए कुछ और चाहिए जो मात्र मांसल सौन्दर्य में उपलब्ध नहीं है, वह 'कुछ ही' विद्यापति का अपरूप है, सांसारिक होते हुए भी उससे थोड़ा भिन्न। रमणीयता की परिभाषा देते हुए उसकी 'क्षण-क्षण परिवर्तित नूतनता' को आवश्यक गुण बताया जाता है, विद्यापति भी इसीलिए केवल नूतन सौन्दर्य के उपासक हैं—उन्होंने इसे चिरनूतन यौवन, अभिराम यौवन का सम्बोधन दिया है। विद्यापति इस नवयौवन के सौन्दर्य को देखकर नव वसन्त के आगमन पर आम्र गन्ध से प्रमत्त कोकिल की तरह कूक उठते हैं—

नव वृन्दावन नव नव तरु गन

नव नव विकसित फूल
नवल वसन्त नवल मलयानिल
मातल नव अति कूल
बिहरइ नवल किसोर
कालिन्दी पुलिन कुंज वन सोभन
नव नव प्रेम विभोर

सौन्दर्य की पिपासा जब कवि के मन में जगती है तो उसे प्रकृति की प्रत्येक वस्तु सुन्दर लगती है, क्योंकि उसे अपने आदर्श सौन्दर्य की छाया ही सर्वत्र दिखाई पड़ती है। दुनिया में कोई वस्तु बुरी नहीं। बुरी वस्तु भी कम बुरी नजर आती है यदि वह हमारी कल्पना का विषय बन सके। 'मिडसमर नाइट्स ड्रीम' में एक स्थान पर शेक्सपियर ने लिखा है—[1]

'इस श्रेणी में सबसे सुन्दर वस्तुएँ भी क्या हैं? केवल छायाएँ। सबसे बुरी वस्तु भी अधिक बुरी नहीं हो सकती यदि कल्पना से उसका परिष्कार करें।'

संसार की प्रत्येक वस्तु सुन्दर है, फिर भी इन वस्तुओं के आधार पर अपरूप का वर्णन सम्भव नहीं। कवि विद्यापति उस मायिक सौन्दर्य को अनिर्वचनीय समझ कर कहते हैं—

अमियक लहरी वम अरविन्द
विद्रुम पल्लव फुल्लल कुन्द
निरखि निरखि मैं पुनु पुनु हेर
दमन लता पर देखल सुमेरु
साँच कहों मैं साखि अनंग
चान्दक मंडल जमुना तरंग
कोमल कनक केआ मुति पात
मसि लए मदने लिखल निज बात

---

1. The best in this kind are but shadows and the worst are no worse if imagination amends them.

पढ़हि न पारिअ आखर पाँति
हेरइत पुलकित हो तनु काँति
भनइ विद्यापति कहओ बुझाए
अरथ असंभव के पतिआए

पद्म अमृत लहरी का उद्‌गीरण करता है, प्रवाल पल्लव में कुन्द-फूल फूले। मैंने बार-बार देखा है। दमनक लता में सुमेरु छिपा है। मैं आपसे सच कहता हूँ, विश्वास कीजिए, मैं अनंग की शपथ लेकर कहता हूँ मैंने चन्द्र-मंडल में यमुना-तरंग देखी। कोमल स्वर्णमूर्ति निर्मित पत्र में मदन ने मसि लेकर अपनी कथा लिखी। मैं उन अक्षरों की पंक्ति पढ़ न सका, केवल देखकर शरीर रामांच से भर गया। विद्यापति कहते हैं कि मैं कितना भी समझाऊँ, इस असंभव पर विश्वास कौन करेगा ?

कवि के मन की यह शंका ही उसकी शक्ति है। सौन्दर्योपासक कवि के लिए सबसे बड़ी दुर्बलता उसकी वह आसक्ति होती है जो उसे वर्ण्य वस्तु के ऐन्द्रजालिक मायाजाल से बाहर नहीं निकलने देती। यह आसक्ति या तन्मयता कवि के लिए घातक होती है। विद्यापति सूरदास की तरह कृष्ण की मोहनी छवि पर निछावर नहीं होते; न तो वे अपने को उस धारा में बहा देते हैं; बल्कि वे निरन्तर उस सौन्दर्य से तटस्थ होकर उसकी दैवी-शक्ति की, चुम्बकीय आकर्षण की व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। उन्हे विश्वास नही कि वह सौन्दर्य मेरे बार-बार समझाने पर भी स्पष्ट हो सकगा। वे प्रेमातिरेक में यह नहीं कहते कि मैं उस कोटि मन्मथ को पराभूत करनेवाली छवि पर निछावर हूँ। चण्डीदास और विद्यापति की रूपाशक्ति की विवेचना करते हुए निराला जी ने लिखा है कि 'विद्यापति सौन्दर्य के स्रष्टा भी जबर्दस्त थे और सौन्दर्य में तन्मय हो जाने की शक्ति भी उनमें अलौकिक थी। कवि की यह बहुत बड़ी शक्ति है कि वह विषय से अपनी सत्ता को पृथक् रखकर उसका विश्लेषण भी करे और अपनी इच्छानुसार उसमें मिलकर एक भी हो जाये। चण्डीदास में केवल तन्मयता की शक्ति ही प्रस्फुटिक हो सकी है।'[1]

---

१. विद्यापति और चण्डीदास, प्रबन्ध प्रतिमा, प्रथम संस्करण, १९४० पृ. १५१।

सौन्दर्य विद्यापति के मन में सस्ता उल्लास नहीं बल्कि गम्भीर पीड़ा का संचार करता है, यह पीड़ा सौन्दर्य की शाश्वत शक्ति का द्योतक है। कवि बार-बार उस रूप के प्रथम दर्शन के बाद उत्पन्न वैचित्र्य का वर्णन करता है जो नायक और नायिका दोनों के हृदय को भयंकर पीड़ा से जड़ीभूत कर देता है। पीड़ा का आविर्भाव साधारण कोटि के रूप के दर्शन से नहीं होता। विद्यापति का व्यक्तित्व इस स्थिति का स्पष्टीकरण कर सकता है। विद्यापति ने सैकड़ों प्रकार के रूप देखे। रानियों-राजकुमारियों के, नर्तकियों के, ग्राम-बालाओं के, सद्य-स्नाता नारियों के, किन्तु इस रूप ने उनके मन में एक ऐसे रूप-दर्शन की प्यास जगाई जो भोक्ता की तरह मांसल रूप के सम्पर्क से तृप्ति-लाभ नहीं चाहता बल्कि एक ऐसी नैसर्गिक पीड़ा को जन्म देता है जो कवि के मन को व्याकुल कर देती है यह शरीर की पीड़ा नहीं है, मन की पीड़ा है :

सपनेहु न पूरल मन के साध
नयन देखल हरि एत अपराध
मन्द मनोभव मन जरे आगी
दुलभ पेम भेल पराभव लागी
अबुध सखी जन बुझए न आधी
आन औषध कर आन बेआधी
मनसिज मन के मन्दि वेवथा
छाड़ि कलेवर मानस बेथा

सपने में हरि को देखने की साध भी पूरी न हुई। मैंने आँखों से हरि को देखा है, इतना ही मेरा अपराध है। मन्द भावनाओं की अग्नि में मन जल रहा है। लगता है यह दुर्लभ प्रेम मुझे पराभव देने के लिए ही पैदा हुआ है। भोली सखियाँ कुछ नहीं समझ पातीं, रोग कुछ और है वे दवा कुछ और दे रही हैं। मनसिज ने तो मन की व्यवस्था ही हर ली। यह रोग शरीर का नहीं, मन का है।

प्रेम विद्यापति के काव्य की सबसे बड़ी प्रेरणा है। वे पूर्णतः प्रेमिक

कवि थे। सौन्दर्योपासक कवि बिना प्रेमी हुए रह ही नहीं सकता। वस्तुतः सौन्दर्य का परिभाषा ही यह है। सुन्दर उसी वस्तु को कहा जाता है जो प्रेम की वस्तु हो सके। जिस वस्तु के प्रति प्रेम न हो वह सुन्दर नहीं हो सकती अथवा कोई सुन्दर वस्तु बिना प्रेम की वस्तु बने रह नहीं सकती। गिलबर्ट मरे (Gilbert Murray) ने लिखा है कि सौन्दर्य वह है जो देखा जाकर प्रेम का विषय बनता है। प्रेम मनुष्य की वैयक्तिक सम्पत्ति है। किन्तु यह प्रेम जब कविता या कला के माध्यम से व्यक्त होता है तो सार्वजनिक हो जाता है। इसीलिए रिवेका वेस्ट का कहना है कि प्रेम और कला के बीच यही सम्बन्ध है कि प्रेम जिसे व्यक्ति की थाती बनाये है कला उसे विश्व की निधि बना देती है। प्रेम मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। शुक्ल जी की भाषा में कहें तो, 'जिस प्रेम का रंजनकारी प्रभाव विद्वान् की बुद्धि, कवि की प्रतिभा, चित्रकार की कला, उद्योगी की तत्परता, वीर के उत्साह तक बराबर फैला दिखाई दे, उसे हम भगवान् का अनुग्रह समझते हैं।' संसार के कई महापुरुषों के जीवन में इस प्रेम ने ही प्रेरणा का कार्य किया है। प्रसिद्ध कवि दान्ते इस प्रेम को अपने जीवन की सबसे बड़ी प्रेरणा-शक्ति कहा करते थे। उन्होंने कहा है कि 'मैं वह हूँ जिसके जीवन में प्रेम यदि प्रोत्साहन दे तो लिखता हूँ। प्रेम मेरे अन्तर्मन में जैसे कहता है, मैं वैसे ही उसे व्यक्त करता हूँ।'[१]

राधा और कृष्ण के महत् प्रेम को समझने के लिए हमें विद्यापति के उस विश्वास को समझना होगा जिसे उन्होंने प्रेम से अर्जित किया था। बिना प्रेरणा के कोई काव्य नहीं होता, काव्य तो क्या संसार का कोई भी बड़ा कार्य महती प्रेरणा के बिना संभव नहीं है। प्रेरणा हमेशा सांसारिक परिचित वस्तु से उत्पन्न होती है, किन्तु यह प्रेरणा हृदय में

---

१. I am one when love
Inspires me, note, and in the way that he
Dictates within, I give the out ward form

एक ऐसे भाव-स्रोत को जन्म देती है जो हमारे लिए एकदम नया और शक्तिपूर्ण होता है। प्रेम की इस प्रेरणा को शेली कविता की प्राण-धारा कहा करता था। शेली ने लिखा है कि 'कविता कोई तर्क नहीं है कि इच्छा की और प्रक्रिया शुरू हो गई। कविता के सृजन के समय कवि-मस्तिष्क बुझे हुए कोयले की तरह रहता है, बस हवा का एक झोंका आया, एक अनजाने प्रभाव से वह उसे जगा जाता है। यह शक्ति-हृदय के भीतर से उठती है, फूल के रंग की तरह जो कविता को जन्म देकर खुद खत्म हो जाती है।' क्या यह प्रेरणा कवि के मन में हमेशा के लिए बनी रहती है ? शेली कहता है 'नहीं, सृजन की प्रक्रिया में ही यह बहुत कुछ समाप्त होने लगती है, और संसार की सर्वश्रेष्ठ कवितायें प्रायः वही हैं जिनमें प्रेरणा के मूलरूप की धूलितम छाया ही शायद बची रह गई।'[१] प्रेम की महान् कविताओं को पढनेवाले सहस्रों पाठकों को क्या पता कि इस मामूली-सी अनजान प्रेरणा ने कवि के मन को इतने महत् कार्य के लिए प्रेरित किया था।

संसार के अन्य श्रेष्ठ कवियों की तरह विद्यापति के विषय में भी एक किम्वदन्ती चलती है। कहा जाता है कि राजा शिवसिंह की सुन्दरी पत्नी रानी लखिमा से विद्यापति का प्रेम था। लखिमा बहुत सुन्दरी थीं साथ ही वे उच्चकोटि की कवयित्री और काव्यमर्मज्ञा भी थीं। कुछ संस्कृत के श्लोक लखिमा ठकुरानी के विरह गीत नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार के एक श्लोक में विरह की व्यथा का चित्रण किया गया है। चक्रवाक कमल-नाल को तोड़कर खाना चाहता है किन्तु कमल-तन्तुओं को चन्द्रमा की किरणें समझ कर नहीं खाता। कमल के पत्रों पर पड़ी हुई बूंदों को तारा समझ कर प्यासे होने पर भी वह उन्हें पीता नहीं। कमलों की काली छाया में मंडराते हुए काले भंवरों को देखकर उसे संध्या का आभास होने लगता है, इस प्रकार कान्ता के विश्लेष की आशंका मात्र से ही चक्रवाक दिन को रात्रि मानता है :

---

१. Defence of Poetry.

भुक्त्वा भोक्तुं न भुङ्क्ते कुटिल विषलतां कोटिमिन्दोर्वितर्का–
त्ताराकारात्तृषार्तः पिबति न पयसां विप्लुषः पत्रसंस्थाः।
छायाम्भोरुहाणामलिकुलशवलां वीक्ष्य सन्ध्यामसन्ध्यां
कान्ताविश्लेष–भीरूदिनमपि रजनीं मन्यते चक्रवाकः॥

यह श्लोक ग्रियर्सन ने लखिमा ठकुरानी के विरह गीत शीर्षक से इंडियन ऐंटिक्वेरी में प्रकाशित कराया था। सहजिया सम्प्रदाय के वैष्णव भक्त विद्यापति को अपने सात श्रेष्ठ रसिक भक्तों में एक मानते हैं। इन सातों में प्रथम विल्वमंगल हैं, जिन्होंने यौवनारंभ में चिन्तामणि वेश्या से प्रेम किया था, बाद मे विरक्त होकर बहुत बड़े भक्त हुए। इनका विश्वास है कि इसी तरह विद्यापति का राजा शिवसिंह की पत्नी लखिमा से गुप्त प्रेम था।[1] बंगाली कवि नरहरि दास ने तो अपने एक पद में लिखा है कि लखिमा राधा की प्रतिमा है, जब वह आँखों के सामने होती है तब कविता शत धाराओं मे फूट पड़ती है :

लछिमा रूपिनि राधा इष्ट वस्तु जाव
जवे देखि कविता स्फुरय शत धार

संभव है लखिमा की कहानी पूरी जनश्रुति या कपोलकल्पना ही हो। यह भी संभव है कि इस कहानी में कुछ सत्य भी हो। जो भी हो इतना सत्य है कि पदावली के सर्वश्रेष्ठ गीत लखिमा और उनके पति शिवसिंह को समर्पित हैं। संयोग-शृंगार के अत्यन्त मधुर गीतों में विद्यापति ने लखिमा को साक्षी की तरह उपस्थित किया है। श्री विमान विहारी मजूमदार ने लिखा है कि "पदावली के १९८ पदों में शिवसिंह लखिमा का नाम आता है। लखिमा का नाम बहुत से पदों में शिवसिंह के साथ आया है, कुछ में केवल शिवसिंह का।" कुछ पदों में ऐसा भाव है जिसे विद्यापति इन पदों को शिवसिंह और लखिमा देवी के सामने पढ़ रहे हैं पर कहीं-कहीं ऐसा भी आता है कि शिवसिंह गाते हैं :

---

१. कीर्तिलता, बँगला संस्करण, भूमिका, पृ० १८।

२. विद्यापति, पृ० १८।

राजा शिवसिंह गाओलपुन
लखिमा देवी उदार (पद ४०)[1]

इन पदों में एक बात का पता अवश्य लगता है कि विद्यापति का राजा-रानी के साथ सख्य-भाव का सम्बन्ध था अन्यथा इस प्रकार की शृंगारिक बातें इतने स्पष्ट ढंग से कहना कठिन होता। क्योंकि प्रत्येक पद में शृंगार चेष्टाओं का वर्णन करके कवि ने कहा है कि इस रस को राजा शिवसिंह और लखिमा जानते है। या लखिमा के रमण राजा शिवसिंह जानते हैं, या वे राजा शिवसिंह जानते हैं जो लखिमा के साथ रमण करते हैं।

प्रेम की प्रेरणा से मेरा यह तात्पर्य नहीं था कि मैं विद्यापति के जीवन के गुप्त प्रेम-व्यापारों को स्पष्ट करूँ। यह न आवश्यक है न उचित और न तो सम्भव ही। प्रेम को प्रेरणा का मतलब है प्रेम के विषय में कवि के विचार। वह प्रेम को किस दृष्टि से देखते हैं, प्रेम के विषय में उनके क्या विश्वास हैं, क्या धारणायें हैं? प्रेम के विषय में प्रत्येक कवि की भिन्न-भिन्न धारणायें होती हैं। बहुत से उसे केवल चिन्तन का विषय मानते हैं, बहुत से उसे वायवी या काल्पनिक कहते हैं, बहुतों के लिए इन्द्रिय-तृप्ति ही प्रेम है। इस प्रकार की मान्यताओं के कारण प्रेम के दोनों पक्षों संयोग और वियोग के बारे में इनकी धारणाओं में अन्तर आता है। विद्यापति चाक्षुष मैत्री या प्रथम दर्शन से उत्पन्न प्रेम का वर्णन अवश्य करते हैं। राधा और कृष्ण दोनों एक क्षण के लिए एक-दूसरे के रूप को देखकर ही आकृष्ट हो जाते हैं। इसे तारक-मैत्री कहते हैं। शुक्ल जी ने इस प्रकार के प्रथम दर्शन के प्रेम को साहचर्य-जनित प्रेम से हीन कोटि का बताया है। विद्यापति स्वयं प्रेम को साहचर्य का ही परिणाम मानते हैं। प्रेम के विषय में विद्यापति की धारणाएँ इतनी ऊँची हैं, वे इसे इतनी महत् वस्तु मानते हैं कि वे उसे केवल मांसल इन्द्रिय-तृप्ति का साधन समझ ही नहीं सकते। मैं यह नहीं कहता कि

---

१. विमान विहारी मजूमदार—सम्पादित विद्यापति।

विद्यापति प्लेटोनिक प्रेम के पक्षपाती थे, बिल्कुल नहीं। वे आंगिक मिलन के सुख की भी कम अभ्यर्थना नहीं करते। किन्तु यह सब शरीर-व्यापार है, प्रेम यहीं तक सीमित नहीं है। विद्यापति कहते हैं कि प्रेम तो फूल का पौधा है। इस फूल को गोपाल ले आए और फुलवारी में लगा दिया। प्रेम-पूर्ण वार्ता के जल से यह निरन्तर सींचा गया। शील और मर्यादा के घेरे बाँध कर इसकी रक्षा की गई, फूल का नन्हा पौधा प्राण के खंभे पर अवलंबित रहा। और एक दिन इसमें अभिनव प्रेम का पुष्प फूला। जो अमूल्य था, लाखों स्वर्ण मुद्रायें इसके सामने कुछ नहीं थीं। यह अत्यन्त सुन्दर पुष्प और भी विकसित हुआ। तब दो जीव जो अलग-अलग थे, सदा के लिए एक हो गए। इस फूल को सदा निन्दा और असूया के कीड़ों से बचाया गया, साहस ने इसे फल दिया।

फूल एक फुलवारी लाओल मुरारी
जतने पटाओल सुवचन वारि
चौदिस वान्हल सीलक आरि
जिवे अवलम्बन करु अवधारि
ततहु फुलल फुल अभिनव पेम
जस मुल लहए न लाखहु हेम
अति अपरुव पेम परिणत भेल
दुहु जीव अछत एक भइ गेल
पिसुन कीट नहीं लागल ताहि
साहस फल देल विहि निरवाहि
विद्यापति कह सुन्दर सेहु
करये जतन फलमत होए जेहु

संयोग के दिनों में जो विद्यापति मिलन की नाना मुद्राओं के मादक वर्णन से अपने काव्य को आनन्दातिरेक से भर देते हैं, वही विरह के दिनों में सारी सृष्टि को आठ-आठ आँसू रुलाने की क्षमता भी रखते हैं। आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि विरह के गीतों में से अधिकांश किसी राजा या

आश्रयदाता को समर्पित नहीं है। विद्यापति इन गीतों के स्वयं भोक्ता और साक्षी हैं। इन गीतों में विद्यापति की आत्मा रोती है और वे बार-बार प्रिय-मिलन की आशा बँधाकर अपनी आत्मा में रोती हुई विरहिणी को चुप कराते हैं। संभवतः ये गीत उस समय लिखे गए जब वे किसी राजा के आश्रय में न थे, दिन दुःख के थे। दरबारी वैभव और आमोद-प्रमोद से वे घिरे न थे। इस प्रकार की परिस्थिति शिवसिंह की मृत्यु के बाद पैदा हुई थी। बहुत दिनों तक वे अपने सखा राजा की मृत्यु से उदास और खिन्न रहे होंगे। इन्हीं दिनों उन्होंने विरह के ये गीत लिखे। पता नहीं इस प्रकार के विरह गीतों के निर्माण में लखिमा की स्मृतियों ने कितना योग-दान किया; किन्तु इसमें शक नहीं कि ये गीत कवि की अन्तरात्मा की आवाज हैं। बहुत से लोग विद्यापति के संयोग शृंगार वाले पदों को देखकर ही उनके स्वभाव का विश्लेषण कर देते हैं। वे कहते हैं कि राधा बड़ी विदग्धा हैं, कामुक हैं। विद्यापति घोर शृंगारिक हैं। किन्तु विरह ने विद्यापति की आँखों से कितना आँसू गिराया इसे कोई नहीं देखता। रवीन्द्र नाथ ने चंडीदास और विद्यापति के प्रेम-गीतों की तुलना करते हुए लिखा है कि विद्यापति सुख के कवि हैं और चण्डीदास दुःख के। विद्यापति विरह में कातर हो उठते हैं और चण्डीदास को मिलन मे भी सुख नहीं। विद्यापति जगत् में प्रेम को ही सार मानते है और चण्डीदास प्रेम को ही जगत् समझते हैं। विद्यापति भोग के कवि थे, चण्डीदास सहन के। वस्तुतः इस तरह का कथन विद्यापति की उन कविताओं पर लागू होता है जो केवल संयोग शृंगार की है। डॉ॰ विमान बिहारी मजूमदार ने ठीक ही लिखा है कि "राजनामांकित पदों में केवल ३० पद विरह के है। ऐसे ही पदों को देखकर रवीन्द्रनाथ ने ऐसा लिखा था। राजसभा के वातावरण मे जो पद नहीं लिखे गए थे उन्हे कवि ने अपने दुःख के दिनों में अकेले बैठकर रचा था। उनमें गंभीरतर वेदना, निविडतर आनन्द और अतीन्द्रिय अनुभूति की छाप है।"[1] विद्यापति के विरह-गीत इतने कारुणिक और व्यथा से भरे हैं कि उन्हें खाली भोग के गीत

---

१. विद्यापति, पृ॰ ४९।

कहना उनके साथ अन्याय होगा। राधा अपने विरह में कृष्ण के सम्मिलन की आकांक्षा से पीड़ित अवश्य है; किन्तु उसके हृदय की स्वाभाविक वेदना को कातरता कहना उसका अपमान करना है। राधा ऐसी कातर नहीं है। वह तो यहाँ तक कह सकती है:

माधव हमर रहल दुर देस
केओ न कहइ सखि कुसल सनेस
युग युग जीवथु वसथु लाख कोस
हमर अभाग हुनक नाहि दोस
हमर करम भेल विहि विपरीत
तेजलनि माधव पुरुविल प्रीत
हृदयक वेदन बान समान
आनक दुःख आन नहि जान

कृष्ण कहीं भी रहें, सुख में रहें, हम अपने दुःख को सह लेंगे, यह हमारा दुःख हमारे कर्मों का परिणाम है फिर उनका दोष क्या? सूरदास की राधा की प्रशंसा करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है; 'जहाँ आत्मतुष्टि की वासना विरत हो जाती है, वहाँ प्रेम का अत्यन्त निखरा हुआ निर्मल और विशुद्ध रूप दिखाई पड़ता है। ऐसे प्रेम की अविचल प्रतिष्ठा अत्यन्त उच्च भूमि पर होती है, वहाँ सामान्य हृदयों की पहुँच नहीं हो सकती।' (लोभ और प्रीति) विद्यापति इसी तरह के प्रेम की अभ्यर्थना करते हुए कहते हैं:

सुजन क प्रेम हेम सम तूल
दहइत कनक दिगुन होय मूल
टूटइत नहि टुट प्रेम अद्‌भूत
जइसन बढ़ए मृनाल क सूत

यह प्रेम कनक की तरह मूल्यवान है जो विरह की अग्नि में तप-तप कर शुद्ध हुआ है। यह प्रेम ऊपर से टूटा हुआ दिखाई पड़ सकता है, परिस्थितियाँ दो व्यक्तियों को अलग कर सकती हैं, किन्तु जैसे कमल नाल के टूट जाने पर उसके तन्तु नहीं टूटते, वैसे ही यह प्रेम कभी नहीं टूटता।

विद्यापति निराशवादी कवि नहीं थे, बहुत से लोग उनके स्तुतिपरक गीतों में आत्मग्लानि के शब्दों को देखकर यह आरोप करते हैं कि विद्यापति जीवन की अन्तिम अवस्था में निराशावादी हो गए थे। यह सत्य है कि इन पद्यों में विद्यापति के मन की घोर कातरता दिखाई पड़ती है, जैसे निम्न पद में देखिए :

तातल सैकत वारि विन्दु सम
सुत मित रमनि समाज
तोहे विसारी मन ताहि समरपिनु
अब मझु होव कोन काज
माधव हम परिनाम निरासा
तुहुँ जगतारन नाम दयामय
अतय तोहर विसवासा
अवधि जनम हम नींद गमायनु
जरा सिसुकत दिन गेला
निधुवन रमनि रभस रंग मातनु
तोहे भजब कोन बेला

इस प्रकार के पदों में दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहला कवि का आत्मनिवेदन जो उस काल के भक्त कवियों की परिपाटी थी। अपने को अत्यन्त गिरा हुआ, पतित नीच और कदर्थ बताकर भगवान् की दया के लिए याचना करना एक प्रकार से भक्त कवियों के लिए कवि प्रौढ़ोक्ति है, कवि परिपाटी। सूर, तुलसी, आदि सभी कवियों में इस प्रकार की आत्म-ग्लानि भरी पड़ी है। विनयपत्रिका में तुलसीदास ने मानव-जीवन की शिशु-काल से जरा-काल तक की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का कदर्थना-भरा चित्रण प्रस्तुत किया है और अन्त में कहा है कि भगवान् इस प्रकार के कृतघ्न नीच पतित जीव का तुम्हीं उद्धार कर सकते हो। सूरदास के विनय के पदों की 'घिघियाहट' पर महाप्रभु बल्लभाचार्य की ताड़ना विदित है ही। इस प्रकार की स्तुतिपरक कविताएँ चाहे वह गंगा की वन्दना में हों या देवी की,

गणेश की, शंकर की, जानकी की, राधा की या दुर्गा की, सब में यही कातरता दिखाई पड़ती है। यह कातरता जीवन की वास्तविक निराशा का परिणाम नहीं है बल्कि देवता की महिमा और भक्त की असहायता की रूढ़ अभिव्यक्ति मात्र है। इसे कवि के जीवन के यथार्थ से सम्बन्धित करने का प्रयत्न अनुचित है। क्योंकि सौन्दर्य और प्रेम का वास्तविक कवि कभी निराशावादी हो नहीं सकता। वाचा भगवान् के सामने दीनता-भरी स्तुति करता हुआ, दुनियादारी का तकाजा पूरा करता हुआ वह निरन्तर सौन्द और प्रेम की प्रेरणा से अनुचालित होता रहता है।

विद्यापति के सम्मुख सम्प्रदाय या धर्म का कोई विशेष महत्व न था आलोचकों ने इस प्रश्न को सुलझाने के लिए कि विद्यापति शैव थे या वैष्णव लम्बे-लम्बे तर्क दिये हैं। इन तर्कों के अंबार में यह ढूँढ़ना तो मुश्किल हो ही गया कि विद्यापति क्या थे, जो बातें स्पष्ट सामने थीं वे भी इस कुहेलिका-जाल में छुप गईं। विद्यापति ने प्रेम के बहुत ऊँचे गीत लिखे हैं, उनके लिए मनुष्य से बड़ा और कोई पदार्थ नहीं है, शारीरिक सौन्दर्य से बड़ी और कोई निधि नहीं है। आलोचक विद्यापति की इन रचनाओं को इन्हीं के आधार पर समझना नहीं चाहते। वे जानना चाहते हैं कि वे शैव हैं या वैष्णव। क्योंकि इन आलोचकों की यह मान्यता है कि यदि विद्यापनि शैव थे तो राधा-कृष्ण के प्रेम-गीत निश्चित ही शृंगारिक हैं क्योंकि कोई शैव भला वैष्णव-देवताओं के बारे में भक्तिपूर्ण पद क्यों लिखेगा? इस प्रश्न पर आगे विचार किया गया है। इस स्थान पर मैं विद्यापति की धार्मिक मान्यता के विषय पर कुछ भिन्न दृष्टि से विचार करना चाहता हूँ। कवि या लेखक की रचनाओं में धर्म का तत्त्व दो प्रकार से प्रतिफलित होता है। या तो वे रचनाएँ निश्चय ही धर्म के विषय में हों अर्थात् किसी विशेष प्रकार के धर्म के प्रचार-प्रसार के निमित्त लिखी गई हों, जैसे प्राकृत-अपभ्रंश में लिखे हुए बहुत से जैन काव्य या संस्कृत में लिखे हुए हिन्दू-धर्म-ग्रंथ आदि। इन रचनाओं में धर्म केन्द्रीय शक्ति है, बाकी वस्तुयें उसी का अनुगमन करती हैं। कवितायें धर्म का विषय एक

और भी तरीके से बनती हैं। धर्म उन कविताओं में मुख्य नहीं होता। उनमें मनुष्य के बहुत ऊपर उठे हुए मानसिक धरातल का चित्रण होता है। मनुष्य के मन का उच्चतम धरातल जब कवि के काव्य में अभिव्यक्ति पाता है तो उसे आलोचक मधुमती भूमिका की संज्ञा देते हैं। इस मधुमती भूमिका को प्राप्त कवि की रचनाओं में विश्वजनीन मानव धर्म अभिव्यक्ति पाता है। यह एक स्थिति है जिसमें कवि धर्मों के संकुचित घेरे तोड़कर देश-काल निरपेक्ष साहित्य की सृष्टि करता है। इस साहित्य में किसी भी धर्म की मूल बातें अर्थात् मानवीय जीवन के अभ्युदय और निःश्रेयस् क बातें, दिखाई पड़ सकती हैं। विद्यापति की सभी कविताओं में तो नहीं किन्तु अधिकांश मे इसी धर्म की छाया है—यानी मानवधर्म की। राधा और कृष्ण किसी एक जाति या देश के नहीं हैं और न तो प्रेम किसी स्थूल सीमा में आबद्ध हो सकता है। प्रश्न हो सकता है, फिर इन कविताओं पर वैष्णव भक्ति का बिल्ला लगाना कहाँ तक उचित है? विद्यापति ने यह बिल्ल नहीं लगाया, उन्होंने अपनी कविता को वैष्णव भक्ति का काव्य नहीं कहा चूँकि उनकी कविता में व्यक्त मानव-हृदय वैष्णव भक्त के हृदय से ज्यादा साम्य रखता है इसलिए परवर्ती काल में ये कवितायें वैष्णव भक्तों द्वारा स्वीकृत होकर कीर्तन का विषय बन गयीं। रागानुगा भक्ति और सांसारिक प्रेम में प्रकार का अन्तर नहीं होता, केवल उद्देश्य का अन्तर है जड़ोन्मुख होकर जो भावना प्रेम की संज्ञा पाती है वही चिदोन्मुख होक भक्ति कही जाती है। अत्यन्त श्रृंगारिक कविता भी कभी-कभी शुद्ध चित्त में भगवान् के प्रति अनन्य अनुराग जगाने का कारण बन जाती है। उदाहरण के लिए रूप गोस्वामी की श्री पद्यावली में एक श्लोक आता है:

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा—
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढा कदाम्बानिलाः
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसी तरुतले चेतः समुत्कण्ठते

---

१. श्री पद्यावली, श्लोक ३८२।

अर्थात् जो मेरा कौमार्य हरण करने वाला था वही आज मेरा पति है, आज भी वैसी ही चैत की रात है, वही विकसित मालती की गंध है, कदम्ब फूलों से सुवासित परिणत वय का वही अनिल है, मैं भी वही हूं, किन्तु जाने क्यों रेवा के तट पर कदम्ब-तरुछाया में जो सुरत-व्यापार की लीलाएँ हुई थीं, उन्हीं में मेरा चित्त उत्कंठित हो रहा है।

महाप्रभु चैतन्य देव ने सुना तो घंटों व्याकुल रहे। इस श्लोक को पढ़कर महाप्रभु भावान्तर लोक में प्रविष्ट हो गए। कृष्णराज ने चैतन्य-चरितामृत में लिखा है कि जगन्नाथ क्षेत्र के वैभव और कोलाहल से अतृप्त होकर प्रभु वृन्दावन की कामना कर रहे थे, उसी समय इस श्लोक को उन्होंने भावावेश में दुहराया :

एइ श्लोक महाप्रभु पडे बार बार
स्वरूप विना केह अर्थ ना बूझे इहार
पूर्वे येन कुरुक्षेत्रे सब गोपीगण
कृष्णेर दर्शन पाया आनन्दित मन
जगन्नाथ देखि प्रभुर से भाव उठिल
सेइ भाविष्ट हइया धुया गायोआइल
अवशेषे राधा कृष्ण कइला निवेदन
सेइ तुमि सेइ आमि सेइ नव संगम
तथापि आमार मन हरे वृन्दावन
वृन्दावन उदय कराह आपन चरण
इहा लोकारण्य हाति घोड़ा रथध्वनि
ताहां पुष्पवन भृंग पिकनाद शुनि

भक्ति और सांसारिक प्रेम दोनों ही की परिणति-अवस्था में इस प्रकार की परिस्थितियाँ आती हैं जिनमें भक्त या प्रेमी अपने हृदय में नाना प्रकार के सुख-दुःख मिश्रित भावों का अनुभव करते हैं। इन परिस्थितियों का सफल चित्रण बहुत थोड़े कवि कर पाते हैं क्योंकि ऐसी अवस्थाओं में मनुष्य का मन नैसर्गिक सहज स्थिति में होता है जिसमें कल्मष नहीं होता, संकोच और अहं की क्षुद्र सीमा नहीं होती। इस

प्रकार के वर्णन में लौकिक प्रेमगत-परिस्थितियों से भक्ति की कई प्रकार की स्थितियों का साम्य दिखाई पड़ता है। विद्यापति के प्रेम-गीतों में यदि किसी शैव या शाक्त या सूफी साधक को अपनी पद्धति का कुछ साम्य नजर आये तो उसमें विद्यापति को या उन्हें शृंगारिक मानने वाले आलोचक को क्या आपत्ति हो सकती है। वैसे वैष्णव रागानुगा भक्ति से इसका ज्यादा साम्य है।

विद्यापति प्रेम और विरह के अत्यन्त गम्भीर वातावरण में रहते हुए भी काफी विनोदी और आमोदप्रिय जीव थे। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि कुछ कवि प्रेम का गान लिखते हुए, विरह की अवस्था में या असफल प्रेम की स्थिति में इतने गमगीन हो जाते हैं, ऐसा मुँह फुलाए रहते हैं कि उनको पढ़ना भी मुश्किल हो जाता है। वर्तमान युग के बहुत से कवि इस असाध्य रोग के शिकार हैं। प्रेम के अलावा उन्हें और कुछ सूझता ही नहीं, प्रेम की कुछ ढंग-ढर्रे का हो तो भी कोई बात हुई, वह प्रेम न होकर केवल प्रलाप होता है। 'वाताधिकाः कवयः भवन्ति' को वे चरितार्थ करते हैं। विद्यापति इस तरह के व्यक्ति नहीं थे। रूप देखा तो छक कर देखा, प्रेम किया तो अस्तित्व भूल कर किया, विरह में पड़े तो सौ फीसदी व्यथा को झेलने के लिए तत्पर रहे, किन्तु जब दुनिया को देखकर कुछ उसपर सोचा विचारा तो ऐसी-ऐसी चीजों पर नजर गई कि उन्होंने उसके वर्णन से पाठकों को हंसाकार लोटन कबूतर बना दिया। तरुणी नारी की सगाई किशोर से हुई तो विद्यापति ने न केवल उस युवती के मन का आक्रोश व्यक्त किया बल्कि इस प्रकार की शादी करने वाले कन्या-पिता के पास यह संदेशा भी भिजवाया कि हाल की व्यायी एक गाय भी भेज दो ताकि 'लड़िका जमाई' का पालन-पोषण हो सके। और दूसरी ओर नवयुवती की शादी किसी बूढ़े वर मोशाय से होने लगी तो भी विद्यापति अपना गुस्सा रोक न सके और शादी-व्याह ठीक करानेवाले उस घटक की दाढ़ी पकड़ कर घसीटवाने से बाज न आये। विनोद का रंग कभी-कभी काफी चढ़ जाता था तो देवी-देवताओं की शादियों का अच्छा मशाला मिल जाता,

औघड़ शंकर और दुकूलावेष्ठित कुमारी गौरी की शादी से मनोरंजक और विषय क्या होगा। विद्यापति ने ऐसी परिस्थितियों में पूरी बारीकी के साथ एक-एक रूढ़ि पर करारा व्यंग्य किया। वैसे मिथिला में शादी-ब्याह की रंगत कुछ अनोखी रहती भी है—तब भी थी। और विद्यापति ने इसे खूब अच्छी तरह प्रयुक्त भी किया। राधा और कृष्ण के प्रेम-प्रसंगों में भी इस कौतुकप्रियता का अभाव नहीं है, वैसे वह विनोद कुछ लोगों के लिए थोड़ा भारी पड़ता है क्योंकि उसके लिए काम-कला-विदग्ध होना पहली शर्त है।

अब तक मैंने विद्यापति की कुछेक वैयक्तिक विशेषताओं का उल्लेख किया जिसे उन्होंने स्वयं साधना से अर्जित किया था अथवा वे उनके व्यक्तित्व की सहज विशेषताएँ थी, परन्तु बहुत सी बातें विद्यापति के व्यक्तित्व में उस युग-विशेष की देन हैं जिसमें वे पैदा हुए थे। बहुत सी चीजें उन्हें परम्परा से मिलीं। इनमें कुछ तो ऐसी हैं, जो उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायक हुईं, कुछ ऐसी भी हैं जिन्होंने व्यक्तित्व को घटाया।

राजशेखर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ काव्यमीमांसा के आठवें प्रकरण में कवि के लिए पठनीय शास्त्रों का विवरण देते हुए कामशास्त्र का भी उल्लेख किया है। कामशास्त्र, नाट्यशास्त्र और अर्थशास्त्र को एकत्र रखा है। इसे उन्होंने 'राजसिद्धान्तत्रयी' कहा है।

श्रुतिःस्मृतिःइतिहासः पुराणं, प्रमाणविद्या समय विद्या राजसिद्धान्तत्रयी....

(काव्य मीमांसा, अष्टम अध्याय, पृष्ठ ८५)

ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी के आस-पास वात्स्यायन ने कामसूत्र का निर्माण किया। उसके बाद और भी कई आचार्यों ने इस शास्त्र के पल्लवन और विकास में अपना अमूल्य योगदान किया। रतिरहस्य, अनंगरंग, नागर-सर्वस्व आदि ग्रंथों में इस शास्त्र का व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया गया। कामशास्त्र में दो वस्तुओं पर बहुत ध्यान दिया गया। कामिनी लक्षण और कन्या-विस्रम्भण। कामिनी लक्षण का निर्माण केवल कामशास्त्र का ही विषय नहीं था। इसके निर्माण में सामुद्रिक शास्त्र के आचार्यों का भी

बहुत बड़ा हाथ था। हिन्दू, जैन और बौद्ध तीनों ही मतों के माननेवाले आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से सामुद्रिक शास्त्र लिखे। हिन्दुओं के सामुद्रिक शास्त्र प्रसिद्ध हैं ही। जैन लोगों ने भी सामुद्रिक पर कई ग्रंथ लिखे। जैनियों के पाँच ग्रंथ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। पाटण के राजमंत्री श्री जगदेव रचित सामुद्रिक तिलक, पार्श्वचन्द का हस्तकाण्ड, अज्ञात संज्ञक किसी लेखक का अर्हत चूड़ामणि सार (१०वीं शताब्दी) उपाध्याय मेघविजय का हस्तमंजीवन तथा किसी अज्ञात विद्वान का प्राचीन सामुद्रिक शास्त्र आदि ग्रंथ जैन आचार्यों के काम-शास्त्र विषयक अध्ययन के परिणाम हैं। ये पाँचों पुस्तकें दसवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच लिखी गईं। सामुद्रिक शास्त्रों में नर-नारी के लक्षणों पर काफी विस्तार से विचार किया गया। इन लक्षणों ने काम-शास्त्र को भी प्रभावित किया। नारी के नखशिख सौन्दर्य के सभी लक्षण इन्हीं सामुद्रिक शास्त्रों के आधार पर तैयार किए गये। पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी हस्तिनी तथा देवसत्त्वा, गन्धर्वसत्त्वा, यक्षसत्त्वा, मनुष्यसत्त्वा, आदि नारियों के भेद और लक्षण सामुद्रिक शास्त्रों और कामशास्त्रों में प्रायः समान हैं। इतना ही नहीं नारी के वर्ण, गंध, स्वर, गति, लावण्य, पाँव, उँगलियाँ, नख, चरण, जानु, उरु, कटि, नितम्ब, वस्ति, नाभि, उदर, त्रिवली, वक्षस्थल, उरोज, हँसली, कन्धे, हाथ, नख, ग्रीवा, चिबुक, कपोल, मुख, अधर, दाँत, जिह्वा, हास्य, नाक, नेत्र, भौंह, कान, ललाट, कपाल, केश आदि अंगों के बारीक से बारीक लक्षण नारियों के विभिन्न प्रकारों के अनुसार नाना प्रकार के बताये गये। कामशास्त्र में मध्यदेश, मालवा, सिंध, पंजाब, गुज-रात, केरल, मद्रास, बंगाल, उत्कल, कोशल आदि की नारियों की प्रवृत्ति और उनके कामाचरण के विषय में भी विचार किया गया है। कन्या विस्रंभण प्रकरण के अन्तर्गत नारी के सौन्दर्य की प्रशंसा, प्रणयोपचार आदि की विधियाँ बताई गयी हैं। बाला, नवोढ़ा, मुग्धा, प्रौढ़ा आदि के प्रणयो-पचार के अन्तर स्पष्ट किये गए हैं। नागरजनों के वर्णन, उनके दैनंदिन कार्य-क्रम, विलास और प्रसाधन के नाना उपकरणों का विस्तृत विवरण दिया गया है। इन शास्त्रों को देखने से मालूम होता है कि नायिका भेद के बीजांकुर यहाँ वर्त्तमान हैं। यही नहीं इनके अंदर प्रणय के नाना रूपों के बारे में

रूढ़ियाँ भी स्थापित हो चुकी थीं इन शास्त्रों का प्रभाव बहुत गहराई से पड़ रहा था। कामशास्त्र का मूल उद्देश्य कुछ और ही था। वात्स्यायन ने लिखा था कि काम अर्थ ओर धर्म दोनों का साधन है :

फलभूतश्च धर्मोर्थयोः (कामसूत्रम्)

वात्स्यायन ने विवाह को आवश्यक बताया था और शास्त्र को वर्णाश्रम की मर्यादा और सीमा में घेर कर रखा था :

कामश्चतुर्षु वर्णेषु सवर्णतः शास्त्रतश्चानन्यपूर्वायां
प्रयुज्यमानः पुत्रीयो यशस्वी लौकिकश्च भवति
(कामसूत्रम)

बाद में इस शास्त्र की मर्यादा नष्ट हो गई और इसका मूल प्रयोजन इन्द्रियसुख और 'परपरिगृहीता' के प्रति आसक्ति और व्यभिचार हो गया। इन शास्त्रों में वर्णित नारी सौन्दर्य और अंगप्रत्यंगों के लक्षणादि इतने लोकप्रिय हुए कि कवियों ने ज्यों का त्यों इन्हें काव्यविषयक उपकरण के रूप में गृहीत कर लिया। सौन्दर्य चित्रण में तथा नखशिख-वर्णन में कामशास्त्र के लक्षणों को ज्यों का त्यों अपना लिया गया। इतना ही नहीं कामशास्त्र के रूढ़ भेदोपभेदों को नारी के रूप-वर्णन में पूर्ण महत्त्व दिया गया। बाला, नवोढा, मुग्धा, प्रौढ़ा आदि के वर्णन में कामशास्त्र के लक्षण काव्य के नियम बन गए और इन रूढ़ विशिष्टताओं को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण स्वरूप श्लोक आदि रचे जाने लगे। कामशास्त्र का प्रभाव चित्रकला तथा मूर्तिकला पर भी कम न पड़ा। पवित्र देव-मंदिर मिथुन मुद्राओं और आसनों के चित्रों से भर गए। नग्नमूर्तियों का निर्माण श्रेष्ठ कला माना जाने लगा।

कामशास्त्र का प्रभाव आमुस्मिकतापरक या धर्मनिरपेक्ष साहित्य लिखनेवालों पर ही नहीं पड़ा। इसका प्रभाव इतना व्यापक था कि धार्मिक कवि, स्तुति या स्तोत्र लेखक भी इससे बच न सके। दुर्गा, सरस्वती, राधा, गौरी, लक्ष्मी आदि देवियों की स्तुति में उनके सौन्दर्य का चित्रण इन्हीं लक्षणों पर आधारित किया गया। नवोढ़ा और तरुणी के सौन्दर्य-

चित्रण में परिगृहीत उपमान देवियों के सौन्दर्य में भी प्रयुक्त होने लगे। बाद में मधुरा भक्ति के माननेवाले वैष्णव कवियों ने भी इसे और भी अधिक महत्त्व दिया। गीतगोविन्द में सर्वप्रथम काम-कला और हरिस्मरण को एकत्र कर दिया। जयदेव ने बड़े आत्मविश्वास के साथ कहा :

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलास-कलासु कुतूहलम्
मधुर कोमलकान्त पदावलीं शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्
(गीतगोविन्दम्, श्लोक ३)

जयदेव ने हरिस्मरण के साथ-साथ काम-कला के कुतूहलों की शान्ति 'को भी अपनी कविता का उद्देश्य मान लिया। अर्थात् उन्होंने हरि-कीर्तन और कामशास्त्रीय शिक्षा को एक साथ ही स्वीकार किया। जयदेव ने बिना झिझक ये दोनों बातें एक साँस में कह दीं। उन्हें कामशास्त्र-शिक्षा के नाम पर रंचमात्र भी संकोच न हुआ। जयदेव का गीतगोविन्द रागानुगा भक्ति सम्प्रदाय के भक्तों के लिए भागवत की तरह पूज्य है। इस ग्रन्थ का महत्त्व इसी बात से समझा जाता है कि परवर्ती काल में कोई भी वैष्णव कीर्तन बिना इसके श्लोक-पाठ के पूरा ही नहीं माना जाता था। जयदेव ने ५० प्रतिशत कामकला के साथ ५० प्रतिशत हरिस्मरण का संकल्प किया था, पर हुआ क्या ? हरिस्मरण का स्वर क्षीण से क्षीणतर होता गया। हरि के चरणों में निवास करनेवाले जयदेव को हरिस्मरण का जैसा भी आनन्द मिला हो, पाठकों को तो उसने युवती की कोमल-कला की तरह ही आकृष्ट किया :

हरिचरण शरण जयदेव कवि भारती—
वसतु छवि युवतिरिव कोमलकलावती
(७।१०)

जयदेव के लिए उस जनता का पूरा तिरस्कार कर देना असंभव था, जो गाथा सप्तशती जैसी प्रेम-विह्वल रचनाओं में ही आनन्द और मनोरंजन प्राप्त करती थी। जयदेव की विशेषता अवश्य है कि उन्होंने उस प्रकार की प्रवृत्ति में, क्षीणतर ही सही, भक्ति का स्रोत भी अनुस्यूत कर दिया।

विद्यापति पर इस धारा का घोर प्रभाव पड़ा। उन्होंने जयदेव की तरह माधव और राधा के चरणों की वन्दना के साथ ही कामशास्त्र की शिक्षा को भी अपना उद्देश्य मान लिया। तत्कालीन कवि वस्तुतः कामशास्त्री की भूमिका अदा करना भी कवि का ही कर्त्तव्य समझने लगा था। राधा के रूप-चित्रण में विद्यापति ने सामुद्रिक और कामशास्त्र की रूढ़ उत्प्रेक्षाओं और उपमाओं की राशि एकत्र कर दी। प्रेम के चित्रण के बाद वे यह लिखना नहीं भूलते थे कि यह रस कोई-कोई ही जानता है। अरे मूर्खे, राजा शिवसिंह इस रस को जानते हैं, उनसे कुछ डर नहीं अथवा लखिमा इस रस को जानती है। इतना ही नहीं कुछ पदों में उन्होंने कामकला शिक्षक का बाना भी धारण कर लिया है और स्पष्ट शब्दों में लिखा है :

विद्यापति कह इह रस ठाठ
भए गुरु काम सिखाओब पाठ

अथवा

सुनु सुनु ए सखि वचन विसेस
आजु हम देब तोहि उपदेस

और जब विद्यापति अपना 'उपदेस' देने लगे तो वात्स्यायन और उनकी सारी शिष्य-परम्परा दाँतों तले उँगली दबा कर खड़ी हो जाये तो कोई आश्चर्य नहीं। हम इसके लिए विद्यापति को दोषी नहीं कहते। प्रेम-काव्यों की इस परम्परा ने जयदेव के हरिस्मरण को जब कामकला के सामने घुटने टेकने को मजबूर किया तो विद्यापति जैसे दरबारी कवि जिसने हरिस्मरण का कभी संकल्प ही नहीं किया, इस धारा में बह जायें तो आश्चर्य क्या। किन्तु यह उनके व्यक्तित्व की एक निर्बलता जरूर है कि वे उस विकासशील संक्रमण काल में अपने को उस क्षयिष्णु प्रभाव से अलग न कर सके। वे कबीर नहीं हो सके तो कोई बात नहीं किन्तु वे मीरां हो सकते थे।

विद्यापति ने अपने समय की यथार्थ सामाजिक चेतना को पूर्णतः ग्रहण नहीं किया; 'लोक चेतना' शीर्षक प्रकरण में मैंने इस पर विस्तार से विचार

किया है। यहाँ प्रसंगवश इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि विद्यापति जैसे दरबारी कवि ने जन-जीवन के साथ अपने को सम्बद्ध करने का जो कुछ भी प्रयत्न किया और उसमें जितना भी वे सफल हो सके, वह कम नहीं है। चौदहवीं शताब्दी के कवि के लिए भाषा काव्य लिखना ही एक असंभव व्यापार था। तीन सौ वर्ष बाद भी केशवदास ने 'भाखा' में काव्य लिखते वक्त जिस ग्लानि का अनुभव किया तथा तुलसीदास जैसे जनमंगल की भावना से ओतप्रोत कवि ने 'भाखभनिति' के लिए जितनी शालीन सफाई पेश की—वह सब कुछ संभव न हुआ होता यदि विद्यापति जैसे दरबारी कवि ने कविता को देववाणी की दमघोंट चहारदीवारी से बाहर न निकाला होता। यह सही है कि उन्होंने कबीर की तरह संस्कृत को कूपजल कहकर तिरस्कृत नहीं किया; किन्तु इतना तो वे मानते ही थे कि संस्कृत अब केवल बुधजन तक ही सीमित हो गई है।

सक्कय बानी बुहजन भावइ
पाअउँ रस को मम्म न पावइ
देसिल बयना रस जन मिट्ठा
त तैसन जम्पओं अवहट्ठा

उन्होंने अपने राजकवि होने की मजबूरी को संस्कृत प्रशस्ति काव्य लिखकर निभाया, तत्कालीन परम्परा के अनुसार राजा के युद्ध और प्रणय का विवरण पिंगल या अवहट्ठ में उपस्थित किया। किन्तु हृदय का तकाजा, जनता के प्रति उत्तरदायित्व 'देसिलवयना' के माध्यम से ही व्यक्त हुआ। विद्यापति के गीतों का पाठक इनकी जीवंत प्रवाहमयी भाषा से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। लोकगीतों की सुमधुर और सहज पद्धति पर लिखे गए ये गीत तत्कालीन जनमानस के अकृत्रिम दर्पण हैं। इस प्रकार की चेतना को सामाजिक यथार्थ के प्रति श्रद्धा की भावना के बिना कौन कवि ग्रहण कर सका है? इतना ही नहीं विद्यापति ने बाल-विवाह, कूटनी नारी की दीनता, मुसलमानों के आक्रमण से उत्पन्न सामाजिक अव्यवस्था, आदि विषयों पर भी बड़ी ईमानदारी के साथ विचार किया है। १९वीं शताब्दी

के आरम्भ में बाल-विवाह आदि समस्याओं पर विचार करनेवाले लोगों को हम 'रिनेंसा' के अग्रदूत कहते हैं; किन्तु कल्पना कीजिए चौदहवीं शताब्दी के उस युग को, जब विदेशी आक्रमण से संत्रस्त हिन्दू जाति अपने बचाव के लिए नाना प्रकार की किलेबंदी कर रही थी। बाल-विवाह भी उसी युग की देन है, इसमें शक नहीं। विद्यापति ने इस कुरीति को, जो तत्कालीन विकट परिस्थितियों का परिणाम थी, क्षम्य नहीं माना और उस पर मार्मिक किन्तु क्षोभहीन ढंग से प्रहार किया।

लोकचेतना के प्रति उनका आदर एक और रूप में भी व्यक्त हुआ। हिन्दी के अद्यतन काव्य की एक प्रवृत्ति है लोकतत्त्व के परिग्रहण की। हम उन कवियों या लेखकों को साधुवाद देते हैं जो जनता के लोक-गीतों या लोककथाओं को अपने काव्य में स्थान देते हैं। लोकगीतों या लोककथाओं के परिग्रहण में भी कभी-कभी गड़बड़ी पैदा होने की आशंका रहती है। लोकगीत या लोकतत्त्वों का अध्येता जब इन गीतों में जनता के प्रेम या दर्द की सहज विवृति के साथ-साथ अन्धविश्वासों एवं रूढ़ियों के प्रति व्यक्त भयमिश्रित श्रद्धा को भी चुपचाप ग्रहण कर लेते हैं तब लोकगीतों के प्रयोग से स्वस्थ प्रवृत्तियों को बल के स्थान पर बाधा ही मिलती है। लोकतत्त्वों का प्रयोग शैली और वस्तु दोनों ही दृष्टियों से काव्य को उन्नयनशील, कृत्रिमताहीन तथा जन-मानस के साथ सम्बद्ध बनाने में समक्ष होता है। उपमाएँ, उत्प्रेक्षा तथा अन्य अलंकारों के प्रयोग में लोकतत्त्व से प्रभावित उपमान ग्रहण किए जा सकते हैं। यही नहीं, कभी-कभी लोकतत्त्वों का परिग्रहण साहित्य की रूढ़ प्रवृत्तियों से प्रभावित विचार-सरणि को भी बदलने में सहायक होता है। विद्यापति ने लोक-तत्त्वों के ग्रहण में काफी पटुता और कुशलता का परिचय दिया है। उन्होंने गीतों के छन्द, धुन, स्वर तथा शब्द-विन्यास आदि लोकजीवन से लिये, साथ ही विरह और संयोग के वर्णनों में भी लोक-जीवन की मान्य-ताओं का प्रयोग किया। उदाहरण के लिए बालक, जन्म के अवसर पर होने वाले टोने-टोटके, तथा अन्य लौकिक संस्कारों का वर्णन विद्यापति ने

वसन्त को बालक मानकर उसके जन्म के अवसर पर प्रस्तुत किया है :

मधु लए मधुकर बालक दएहलु
कोमल पंखरी लाई
पओनार तोरि सूत बाँधल कटि
कसरि कएल बधनाई

पूजा, व्रत आदि के अवसरों पर गाये जाने वाले स्तुति-गानों में भी अनेक लोक-गीतों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। संयोग और वियोग के गीतों में तो विद्यापति ने अभिजात संस्कारों को नीरस समझ कर एकदम हटा दिया है। उनके स्थान पर उन्होंने सामान्य प्रेमी-प्रेमिका के लोक-जीवन में संघटित प्रेम-व्यापार का मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है। लोक-गीत का एक धुन देखिए :

के पतिया लय जायत रे
मोरा पियतम पास
हिय नहिं सहए असह्य दुख रे
भेल साओन मास
एकसरि भवन पिया बिनु रे
मोरा रहलो न जाय
सखि अनकर दुख दारुन रे
जग के पतियाय
मोर मन हरि हरि लए गेल रे
अपनो मन गेल
गोकुल तज मधुपुर वस रे
कत अपजस लेल
विद्यापति कवि गाओल रे
धनि धरु हिय आस
आओत तोर मनभावन रे
एहि कातिक मास

ठीक इसी भाव के, प्रायः इन्हीं शब्दों के, कई गीत भोजपुरी, अवधी तथा अन्य लोक भाषाओं में आज भी चलते हैं। कहीं-कहीं तो विद्यापति ने

लोकगीत को ज्यों का त्यों रख दिया है। या हो सकता है कि उन्हीं का लिखा हुआ गीत शुद्ध लोकगीत की तरह प्रिय होने के कारण लोकगीत ही प्रतीत होता है। इन गीतों में दर्द की इतनी तीव्र व्यंजना इसीलिए संभव हो सकी है कि कवि ने विरहिणी के मुख से निकलनेवाले शब्दों मे निहित पीड़ा को पहचाना है। विरहिणी नायिका छाती फटने की व्यञ्जना कई शब्दों मे भिन्न तरह से कर सकती है; पर :

मधुपुर मोहन गेल रे
मोरा विरहत छाती
गोपी सकल विसरलनि रे
जत छल अहिवाती

विहरत की तुलना का दूसरा शब्द मिलना कठिन है। यह ऐसा शब्द है जो दर्द की अन्तःसलिला में जाने कितने समय तक बहते-टकराते घिस-घिसकर चिकने पत्थर की तरह पारदर्शी हो गया है, इस शब्द में अभिधार्थ से कहीं ज्यादा भाव सन्निहित हो गया है।

लोकगीत कभी भी निराशावादी प्रवृत्तियों को प्रश्रय नहीं देते। विर-हिणी नारी के दुख को कवि समझता है इसीलिए लोकगीतों की आशावादी प्रवृत्ति के अनुकूल ही वह प्रत्येक पद में कहता है कि धनि, तू अपने हृदय में धैर्य धारण कर, तेरे प्रिय शीघ्र आयेंगे, या इस कातिक मास में ही आ जायेंगे, आदि आदि।

विद्यापति पूर्णतः गीतात्मक (Lyrical) व्यक्तित्व के पुरुष थे। संगीतमयता और अपने व्यक्तित्व को गीतों में लय करने की तन्मयता विद्यापति के नैसर्गिक गुण हैं। उन्होंने संस्कृत और अवहट्ट की कतिपय रचनाओं में प्रबन्धकार कवि के कौशल का परिचय भी दिया है किन्तु जैसा मैंने पहले ही कहा, यह दरबारी कवि के उत्तरदायित्व का निर्वाह मात्र है। विद्यापति का व्यक्तित्व केवल गीतों में ही व्यक्त हो सकता था। एक ऐसा व्यक्तित्व जो सौन्दर्य की भाव-लहरियों से स्पन्दित था, प्रेम-बाँसुरी की जड़ीभूतकारिणी माधुरी से प्लावित था, तथा जो विरह के

चम्पा की तीखी गंध से व्याकुलित था, अपने को केवल लघु-लघु गीतों में ही व्यक्त कर सकता था। दण्डनीति के पण्डित, भूपरिक्रमा के लेखक के व्यक्तित्व में विचार-कर्कशता और तर्क की परुषता अवश्य थी; किन्तु यह उस व्यक्तित्व का हृदय नहीं है, कलेवर है जिसकी रूक्षता और उत्तप्तता के बीच उनके हृदय की सरस भाव-धारा सुरक्षित रही। विद्यापति की राधा वस्तुतः सौन्दर्य का स्तवक है। इकहरे भाव-चित्रों की चित्रपटी है, वह एक ऊँची रुचि के कलाकार की तूलिका से निर्मित चित्रों का अलबम है, उसमें अजन्ता के भित्तिचित्रों का गांभीर्य और विशालता नहीं, उसमें खजुराहो और भुवनेश्वर के मंदिरों में निर्मित मिथुन नरनारी के खण्डित व्यक्तित्व के छायाङ्कन का प्रभाव है। विद्यापति के गीतों में एक क्षण को चिरस्थायी बनाने का प्रयत्न है। एक ऐसा क्षण जो अपनी लघु स्थिति में जीवन की समग्रता का पूरा आभास तो नहीं दे सकता; किन्तु जो जीवन के किसी एक हिस्से को सदा के लिए उद्भासित करने में समर्थ होता है। प्रबंधकार कवि जीवन का पूरा चित्रण इसी क्षण की अनुभूति को प्रस्तुत करने के लिए किया करता है जब कि विद्यापति उस क्षण में ही जीवन देख लेने के अभ्यासी हैं। उनके गीत शबनम को बूँदों की तरह दिव्य और पारदर्शी हैं किन्तु उन्हीं की तरह उनका अस्तित्व भी केवल रुचि-सम्पन्न हृदयों में ही हो सकता है।

विद्यापति का प्रभाव परवर्ती काल पर कई रूपों में पड़ा। अपनी मानवी अनुभूति और देश-काल-निरपेक्ष कलाकारिता के बल पर उन्होंने ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण किया जिसने भक्तों को वैष्णवी भक्ति का सुमधुर गान दिया, रसिकों को कलापूर्ण प्रणय की भाव-भंगिमा, असंख्य बिरही-जनों के कान्ताविश्लेष दुःख से पीड़ित मन को सँभालने की ताकत, युवकों को नारी का मादक मांसल सौन्दर्य तथा वृद्धों को अपने जीवन के अन्तिम काल में आत्म-ग्लानि पूर्ण मन से ईश-वन्दना के लिए स्तुतियाँ प्रदान कीं। डॉ० सुभद्र झा ने लिखा है कि "विद्यापति का प्रभाव तुलसीदास से भी व्यापक है क्योंकि उनके पाठक केवल हिन्दी क्षेत्र के ही लोग नहीं बल्कि

असम, बंगाल और उड़ीसा के भी हैं।" तुलसीदास का प्रभाव कुछ भिन्न तरह का है। यह प्रभाव धर्म के नियमों की तरह बुद्धि-गम्य है, संसार के दुःखों से आकुल जन के लिए तुलसीदास शास्त्रज्ञ किन्तु सहृदय धर्मगुरु हैं। विद्यापति भिन्न हैं, उनकी कविता हृदय को चेतावनी नहीं, प्यार देती है। विद्यापति के गीतों की शैली निराली है। विद्यापति की कविता ने असम और बंगाल के ब्रजबुली कवियों को न केवल प्रभावित किया; बल्कि वह इस प्रकार के काव्य लिखने का आदर्श और प्रेरणा भी बनी रही। इसने पिछले खेवे के ब्रजभाषा कवियों को प्रभावित नहीं किया, ऐसा कुछेक विद्वान् मानते हैं। किन्तु ब्रजभाषा कविता के विकास में बंगाली गोस्वामियों का प्रभाव कम न था। चैतन्य के वृन्दावन आगमन के समय न केवल रागानुगा भक्ति की अनन्तव्यापिनी शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, साथ ही गीत-गोविन्द के श्लोक और विद्यापति के पद भी जो महाप्रभु को बहुत प्रिय थे, वृन्दावन आये। उसके पहले भी विद्यापति से प्रभावित कितने संत वृन्दावन आ चुके थे। रूप गोस्वामी, शंकर देव आदि संत विद्यापति से अपरिचित न थे। विद्यापति के सम्बन्ध में ग्रियर्सन की यह श्रद्धाञ्जलि उचित ही है: "हिन्दू धर्म का सूर्य अस्त हो सकता है, वह समय भी आ सकता है जब कृष्ण से विश्वास और श्रद्धा का अभाव हो, कृष्ण प्रेम की स्तुतियों के प्रति जो हमारे लिए इस भवसागर के रोग की दवा है, विश्वास जाता रहे तो भी विद्यापति के गीतों के प्रति जिनमें राधा और कृष्ण के प्रेम का वर्णन है, लोगों की आस्था और प्रेम कभी कम न होगा।"

●

काल-निर्णय

भारत के अन्य बहुत-से श्रेष्ठ कवियों की भाँति विद्यापति का तिथि-काल भी अद्यावधि अनुमान का विषय बना हुआ है। यद्यपि विद्यापति का सम्बन्ध एक विशिष्ट राजघराने से था, और इस कारण वे मात्र कवि ही नहीं बल्कि एक ऐतिहासिक व्यक्ति कहे जा सकते हैं, किन्तु अभाग्यवश इतने प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के समय के विषय में कोई ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त नहीं हो सकता है, जिस पर मतैक्य हो सके।

विद्यापति की जीवन-तिथि का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः जीवन-तिथि के निर्धारण का कार्य मात्र अनुमान का विषय रह जाता है। विद्यापति के पिता गणपति ठक्कुर राजा गणेश्वर के सभासद थे और ऐसा माना जाता है कि विद्यापति अपने पिता के साथ राजा गणेश्वर के दरबार में कई बार गए थे। उस समय उनकी अवस्था आठ-दस साल से कम तो क्या रही होगी। कीर्तिलता से मालूम होता है कि राजा गणेश्वर लक्ष्मण-सम्वत् २५२ में असलान द्वारा मारे गए। इस आधार पर चाहें तो कह सकते हैं कि विद्यापति का, यदि उस समय दस-बारह साल के थे, तो जन्म लक्ष्मण-सम्वत् २४२ के आस-पास हुआ होगा। सबसे पहले श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त ने विद्यापति-पदावली (बँगला संस्करण) की भूमिका में लिखा कि २४३ सम्वत् को राजा शिवसिंह का जन्म-काल मान लेने पर हम मान सकते हैं कि कवि विद्यापति का जन्म लक्ष्मण-सम्वत् २४१ के आस-पास हुआ होगा। क्योंकि ऐसा प्रसिद्ध है कि शिवसिंह पचास वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठे और विद्यापति अवस्था में इनसे दो साल बड़े थे। इसी के आधार पर विद्यापति का जन्म सम्वत् २४१ (लक्ष्मण) में अर्थात् ईस्वी सन् १३६० में हुआ, ऐसा मान लिया गया।

जन्म-तिथि-निर्धारण के विषय में किसी बाह्य साक्ष्य के अभाव की अवस्था में हमें अन्तःसाक्ष्य पर विचार करना चाहिए। कीर्तिलता पुस्तक से ऐसा मालूम नहीं होता है कि वह विद्यापति की प्रारम्भिक रचनाओं में एक है, जैसा बहुत-से विद्वान् मानते हैं। विद्यापति ने इस ग्रन्थ में अपनी कविता को बालचन्द्र की तरह कहा है :

बालचन्द विज्जावइ भासा
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा
ओ परमेसर हर सिर सोहइ
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ[1] (२।९–१२)

इस पद से ऐसा ध्वनित है कि इसके पहले विद्यापति की कोई महत्त्वपूर्ण रचना प्रकाश में नहीं आई थी। पर कवि की इन पंक्तियों से अपनी कविता के विषय में उनका विश्वास झलकता है और यह उक्ति यों ही कही गई नहीं मालूम होती। कवि कहता है कि यदि मेरी कविता रसपूर्ण होगी तो जो भी सुनेगा, प्रशंसा करेगा। जो सज्जन हैं, काव्य रस के मर्मज्ञ हैं, वे इसे पसन्द करेंगे; किन्तु जो स्वभावेन असूया-वृत्ति के हैं वे निन्दा करेंगे ही। इस निन्दावाली पंक्ति से कुछ लोग सोच सकते हैं कि किसी प्रारंभिक रचना की निन्दा हुई होगी। पर सज्जन-प्रशंसा और दुर्जन-निन्दा कोई नई बात नहीं, यह मात्र कवि परिपाटी है। यहाँ बालचन्द्र निष्कलंकता और पूजार्हता घोषित करने के लिए प्रयुक्त लगता है।

अब यदि हमें कीर्तिलता के निर्माण का समय मालूम हो जाय तो हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि विद्यापति उस समय प्रसिद्ध कवि हो चुके थे। कीर्तिलता के कथा-पुरुषों में कीर्तिसिंह मुख्य हैं। कीर्तिलता पुस्तक महाराज कीर्त्तिसिंह की कीर्ति को प्रोज्ज्वल करने के लिए लिखी गई थी। कीर्तिलता से यह भी मालूम होता है कि कीर्तिसिंह ने जौनपुर के शासक इब्राहिम शाह की सहायता से तिरहुत का राज्य प्राप्त किया, जिसे लक्ष्मण-सम्वत् २५२ में मलिक असलान ने राजा गणेश्वर का वध करके हस्तगत कर लिया था। इस कथा में दो घटनाएँ ऐतिहासिक महत्त्व

---

१. कीर्तिलता और अवहट्ठभाषा, डॉ० शिवप्रसाद सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, द्वितीय संस्करण, १९६४।

की आती हैं। पहली तो असलान द्वारा गणेश्वर का वध और दूसरी इब्राहिम शाह की मदद से तिरहुत का उद्धार।

लक्ष्मण सेन सम्वत् कब प्रारम्भ हुआ, इस पर भी विवाद है। इस समस्या पर कई प्रसिद्ध इतिहास-विशेषज्ञों ने विचार किया है, परन्तु अब तक कोई निश्चित् तिथि पर सबका मतैक्य नहीं है। श्री कीलहार्न ने इस विषय पर बड़े परिश्रम के साथ विचार किया।[1] उन्होंने मिथिला की छः पुरानी पाण्डुलिपियों के आधार पर यह विचार किया कि लक्षण-सम्वत् को १०४१ शाके या १११९ ईस्वी सन् में प्रथम प्रचलित मानने से पांडुलिपियों में अंकित तिथियाँ प्रायः ठीक बैठ जाती हैं। छः पांडुलिपियों में एक को छोड़कर बाकी की तिथियों में गड़बड़ी नहीं मालूम होती। पश्चात् श्री जायसवाल ने डेढ़ दर्जन के लगभग प्राचीन मैथिल पांडुलिपियों की जाँच करके यह मत दिया कि लक्ष्मण सेन सम्वत् में १११६ जोड़ने पर हम तत्कालीन ईस्वी साल का पता लगा सकते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि ऊपर की संख्या केवल कर्णाट या ओइनीवार वंश तक के ऐतिहासिक कागज-पत्रों की तिथियों के लिए ही सही है बाद की ऐतिहासिक तिथियों की जानकारी के लिए उक्त संख्या में क्रमशः दो वर्ष कम कर लेना होगा, यानी जायसवाल के मत से १५३० ईस्वी के पहले की तिथियों के लिए लक्ष्मण-सम्वत् में १११९ जोड़ने से तत्कालीन ईस्वी सन् का पता लगेगा किन्तु बाद की तिथियों के लिए ११०९ जोड़ना आवश्यक होगा।[2] बहुत से विद्वान् लक्ष्मण-सम्वत् का प्रारम्भ ११०६ में ही मानते हैं। इस तरह ११०६ से १११६ तक के काल में अनिश्चित ढंग से कभी लक्ष्मण-सम्वत् का आरम्भ बताया जाता है। ऐसी स्थिति में २५२ लक्ष्मण यानी राजा गणेश्वर की मृत्यु का वर्ष १३५८ ईस्वी से १३७१ के बीच में पड़ेगा।

दूसरी ऐतिहासिक घटना इब्राहिम शाह की मदद से तिरहुत का उद्धार है। जौनपुर में इब्राहिम शाह नाम का मुसलमान शासक अवश्य

---

१. इण्डियन ऐंटिक्वैरी, भाग १२, सन् १८२० ई०, पृ० ७।
२. जे० बी० ओ० आर० एस०, भाग २०, पृ० २०, एफ० एफ०।

था और उसका राज्य-काल भी निश्चित है। १४०२ ईस्वी में इब्राहिम शाह गद्दी पर बैठा। तभी कीर्तिसिंह के आवेदन पर वह तिरहुत में असलान को दण्ड देने गया होगा। अतः इब्राहिम शाह के तिरहुत जाने का समय १४०२ ईस्वी के पहले नहीं हो सकता, यह ध्रुव सत्य है।

ज्यादा से ज्यादा १३७१ में गणेश्वर राय की मृत्यु और उसके ३१ वर्ष के बाद इब्राहिम शाह का मिथिला आगमन बहुत से विद्वानों को खटकता है। इसलिए इस व्यवधान को समाप्त करने के लिए कई तरह के अनुमान लगाए जाते हैं।

सबसे पहले डॉ० जायसवाल को यह व्यवधान खटका और उन्होंने इसको दूर करने के लिए एक नया उपाय निकाला। कीर्तिलता में २५२ लक्ष्मण-सम्वत् की सूचना देनेवाला पद्य इस प्रकार है—

लक्खन सेन नरेस लिहिअ जबे पष्ख पंच वे (की० २।४)

महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने इसका अर्थ किया था कि जब लक्ष्मण सेन का २५२ लिखित हुआ। जायसवाल ने इसे ठीक नहीं माना और उन्होंने 'ज बे' का अर्थ ५२ किया और इसे २५२ में जोड़कर इस कार्य की संख्या ३०४ लक्ष्मण सेन ठीक किया अर्थात् १४२३ ईस्वी।[1]

'जबे' स्पष्ट रूप से समय सूचक क्रियाविशेषण अव्यय है, इसे खींचतान करके वर्ष-गणना का माध्यम बनाना उचित नहीं जान पड़ता। वस्तुतः जो समय-व्यवधान जायसवाल को खटक रहा था, वह सत्य था और ३१ वर्ष के बाद ही इब्राहिम शाह तिरहुत आया, इसमें कोई गड़बड़ी नहीं मालूम होती। उलटे जायसवाल जी की नई गणना से कई ऐतिहासिक भ्रान्तियाँ खड़ी हो जाती हैं। उन्हीं के बताए काल को सही मानें तो राजा कीर्तिसिंह १४२३ या २४ ईस्वी में गद्दी पर बैठे होंगे। ऐतिहासिकता यह है कि राजा शिवसिंह को २९१ लक्ष्मण-सम्वत् में राजाधिराज कहा गया है। यदि गणेश्वर ३०४ लक्ष्मण-सम्वत् में मरे, जब कि वे स्वयं

---

१. जायसवाल, दि जर्नल ऑव बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग १३, पृ० २६६।

राजाधिराज थे, तो शिवसिंह का उनके पहले राजाधिराज हो जाना असत्य हो जाता है।

इधर समय के इस व्यवधान पर डॉ० सुभद्र झा ने भी गंभीरता से विचार किया है।[1] उन्होंने डॉ० जायसवाल के मत को ठीक नहीं माना है और लक्ष्मण-सम्वत् २५२ में राजा गणेश्वर की मृत्यु स्वीकार किया है। परन्तु उन्होंने कहा है कि मृत्यु के बाद ही कीर्त्तिसिंह अपने भाई के साथ अपने पिता के शत्रु से बदला लेने के लिए इब्राहिम शाह के पास गए। चूँकि जौनपुर में इब्राहिम शाह नामक कोई शासक १४०२ के पहले नहीं हुआ इसलिए डॉ० सुभद्र झा ने माना है कि कीर्त्तिसिंह जौनपुर नहीं 'जोनापुर' गए जो लिपिकार की गलती से 'जोइगिपुर' के स्थान पर लिखा गया है। उन्होंने जार्ज ग्रियर्सन की रचना (टेस्ट ऑव मैन, टेल्स नं० २–४१) में प्रयुक्त 'योगिनीपुर को' जिसे ग्रियर्सन ने पुरानी दिल्ली कहा है, जोनापुर का सही रूप बताया है। डॉ० सुभद्र झा को योगिनीपुर के पक्ष में कीर्त्तिलता में ही प्रमाण भी मिल गया।

पेष्खिअउ पट्टन चारु मेखल जओन नीर पखारिआ (की० २–७९)

श्री झा का कहना है कि इस पंक्ति में 'जओन' शब्द का अर्थ 'यमुना' है। विद्यापति के पदों में 'जउन' और 'जउनि' दो शब्द मिलते हैं जिनका अर्थ यमुना है। ऐसी स्थिति में उक्त पंक्ति का अर्थ होगा—'नगर, जो यमुना के जल से प्रक्षालित था, सुन्दर मेखला की तरह मालूम होता था।' तय है कि ऐसी अवस्था में यह शहर जौनपुर नहीं हो सकता। यह अवश्य दिल्ली था किन्तु दिल्ली में डॉ० झा को उस समय के किसी इब्राहिम शाह का पता नहीं चला, इसलिए उनका कहना है कि इब्राहिम शाह अवश्य फीरोज तुगलक का कोई अप्रसिद्ध सेनापति रहा होगा। फीरोजशाह और भोगीश्वर का सम्बन्ध भी यहाँ एक प्रमाण हो सकता है (कीर्त्ति०) किन्तु कीर्त्तिसिंह ने कीर्तिलत्ता में कई जगह इब्राहिम शाह को 'बादशाह' या 'सुल्तान' कहा है, फिर एक अप्रसिद्ध सेनापति को ऐसा

१. डॉ० सुभद्र झा, सांग्स ऑव विद्यापति, भूमिका, पृ० ४१-४२।

कहना ठीक नहीं मालूम होता। इस कठिनाई को श्री झा ने दूर कर दिया है। उनका कहना है कि आदर के लिए ऐसा कहा जा सकता है। जैसा मिथिला में राजा के भाई, या राजघराने के किसी व्यक्ति को 'राजाधिराज' कह दिया जाता है।

इस तरह झा के मत से जोनापुर, योगिनीपुर (पुरानी दिल्ली) या जो जओन (यमुना) के नीर से प्रक्षालित था और जहाँ फीरोज शाह बादशाह था जिसका सेनापति कोई अप्रसिद्ध इब्राहिम शाह था जिसे कीर्त्तिसिंह आदर के लिए बादशाह भी कहा करते थे।

इस दूरारूढ़ कल्पना के लिए डॉ० सुभद्र झा के पास दो आधार हैं। पहला ग्रियर्सन के टेस्ट ऑव मैन की दो कहानियों में आया योगिनीपुर शब्द जिसे उन्होंने पुरानी दिल्ली की कथा-कहानियों में आनेवाला नाम बतलाया है। प्राचीन पुस्तकों में कई स्थानों पर दिल्ली का नाम योगिनीपुर बताया गया है। किन्तु इसका 'जोनापुर' हो जाना अवश्य कठिन है।

अब रहा शब्द 'जओन' जिसे डॉ० झा ने यमुना कहा है। प्राकृत में 'यमुना' का 'जउणा' हो जाता है (प्राकृत व्याकरण ४।१।१७८) इसलिए 'जओन' हो सकना नितान्त असम्भव तो नहीं है। पर देखना होगा कि वस्तुतः यह शब्द है क्या? कीर्तिलता में एक पंक्ति आती है—

फरमान भेलि, कओण साहि (३।२०)

यहाँ 'कओण' का अर्थ है 'कौन'। जिसका अपभ्रंश में 'कवण' रूप मिलता है। कीर्तिलता में ही कवण (१।१३), कमण (२।२५३) रूप मिलते हैं। यह कओन 'कवण' 'कः पुन' का विकसित रूप है।

इसी तरह 'जओन' जिसका अर्थ है जौन यानी जो। 'जवन' का प्रयोग तो आज भी पूर्वी हिन्दी में पाया जाता है। कवण, कओन की तरह ही जवण, जओन रूप भी मिलते हैं। ऐसा ही एक शब्द और है।

जेओन दरबार मेओणे (२।२३९) यानी जिस दरबार में बाबूराम सक्सेना ने इसकी व्युत्पत्ति जेओन<जेमुना से की है।

इस तरह हमने देखा कि यहाँ जेओन का अर्थ यमुना नदी नहीं है। सक्सेना द्वारा सांकेतिक 'ख' प्रति में स्पष्टतः 'जौन' लिखा हुआ है।

इब्राहिम शाह की जैसी निराधार कल्पना डॉ० सुभद्र झा ने की है, वह तो हास्यास्पद कोटि तक पहुँच जाती है। कीर्त्तिलता में जिस इब्राहिम शाह का जिक्र है वह जौनपुर (उत्तरप्रदेश) का प्रसिद्ध इब्राहिम शाह ही था। राजा गणेश्वर की मृत्यु १३६१ ई० में हुई और कीर्त्तिसिंह इब्राहिम शाह को १४०२ ई० में तिरहुत ले आए, इसमें कोई गड़बड़ी नहीं है। ३१ वर्ष के मध्यान्तरित समय में कीर्त्तिसिंह कुछ कर नहीं सकते थे क्योंकि वे उस समय काफी छोटे रहे होंगे, और फिर कुछ कर सकने के लिए अवसर की भी अपेक्षा होती है। उस समय की मिथिला के विषय में विद्यापति ने लिखा है कि चारों ओर अराजकता फैली थी, ठाकुर ठग हो गए, चोरों ने घरों पर कब्जा कर लिया। भृत्यों ने स्वामियों को पकड़ लिया, धर्म नष्ट हो गए, काम-धन्धे ठप हो गए। जाति-अजाति में शादियाँ होने लगीं, कोई काव्य-रस का समझनेवाला न रहा, कवि लोग भिखारी होकर इधर-उधर घूमते रहे। जाहिर है, ऐसी अवस्था तुरन्त नहीं हो जाती। इस तरह के सांस्कृतिक विनिपात में कुछ समय लगता ही है। इस तरह की संस्कारहीनता एक साल में ही नहीं आ जाती, तय है कि इस प्रकार तिरहुत से गुणों के तिरोहित होने में कुछ समय लगा होगा।

अक्खर रस बुज्झनिहार नहिं कबि कुल भमि भिक्खारि भउं
तिरहुत तिरोहित सब्ब गुणे रा' गणेस जब सग्ग गउं
(२।१४–१५)

विद्यापति भी उस समय छोटे रहे होंगे, जौनपुर के वर्णन से लगता है कि विद्यापति ने नगर देखा था, संभवतः राजा के साथ गए हों, क्योंकि जौनपुर का ऐसा बिम्बपूर्ण चित्रण बिना चाक्षुष प्रत्यक्ष के सम्भव नहीं है। ये सब दस-ग्यारह वर्ष के विद्यापति से तो कभी सम्भव नहीं हो सकता। मेरा अनुमान है कि उस समय विद्यापति की अवस्था तीस-

पैंतीस के आसपास रही होगी, इसी से मैंने पहले ही कहा कि कीर्तिलता को प्रथम रचना मानना ठीक नहीं है। इस तरह विद्यापति का जन्म १३७५ ईस्वी के आसपास सम्भव मालूम होता है। गणेश्वर के दरबार में गणपति ठाकुर के जाने-आने की बात केवल जनश्रुति पर ही आधारित है। इसलिए गणेश्वर की मृत्यु के समय विद्यापति का होना प्रमाणित नहीं होता।

इब्राहिम शाह के सम्बन्ध में एक और भी ऐतिहासिक सत्य कीर्त्तिलता में सुरक्षित है। कीर्त्तिलता में विद्यापति लिखते हैं कि कुमार कीर्त्तिसिंह और वीर॰ सिंह के निवेदन पर राजा गणेश्वर के हत्यारे असलान को दण्ड देने के लिए इब्राहिम शाह की सेना तैयार हुई, किन्तु भाग्य की लेखा को कौन टारे, सेना सजी थी पूरब जाने के लिए किन्तु चली पश्चिम।

पुव्वे सेना सज्जियउ पश्चिम हुअउ पयान
आण करइते आण भउं विहि चरित्त को जान (३।४८-४९)

तारीख-ए-मुबारकशाही से पता चलता है कि १४०१ ईस्वी में ज्योंही सुल्तान इब्राहिम शाह जौनपुर की गद्दी पर बैठा, दिल्ली के सुलतान महमूद और उसके सेनापति इकबाल ने कन्नौज पर आक्रमण किया। इब्राहिम एक वृहद् सेना लेकर उसके साथ युद्ध करने गया।[1] इसी घटना की ओर कीर्त्तिलता में संकेत किया गया है। राजकुमारों की प्रार्थना पर इब्राहिम तिरहुत जाने को तैयार तो हुआ, किन्तु उपर्युक्त घटना के कारण उसे पश्चिम जाना पड़ा। लाचार दोनों भाई इब्राहिम शाह की सेना के साथ-साथ बहुत दिनों तक घूमते रहे। उनकी करुण अवस्था का अत्यन्त हृदय-विदारक चित्रण विद्यापति ने किया है। उनके पास न अन्न था, न वस्त्र, घोड़ों के लिए घास तक नहीं मिलती। शरीर सूख कर काँटा हो गया, वे गिन-गिन कर उपवास करने लगे। अपने नायकों की इस विपन्न अवस्था का चित्रण विद्यापति ने काल्पनिक करुणोत्पादन के लिए नहीं किया है बल्कि वह एक ऐतिहासिक सत्य है।

---

१. तारीख-ए-मुबारकशाही, डॉ॰ कमलकृष्ण वसु का अनुवाद, पृ॰ २६६-६७।

विद्यापति के काल-निर्णय के सिलसिले में अन्य प्रमाणों पर भी विचार करना चाहिए। विद्यापति के दो ऐसे पद मिलते हैं जो गियास-उद्दीन आजमशाह और नशरत शाह को समर्पित किये गए हैं :

कविशेखर भन अवरुब रूप देखि
राए नसरत साह नेजलि कमलमुखि

डॉ० उमेश मिश्र ने लिखा है कि नसरतशाह प्रसिद्ध नसीबशाह दिल्लीश्वर अलाउद्दीन हुसेनशाह के अठारहों पुत्रों मे सबसे बड़े थे। यह बड़े योग्य थे और पिता के मरने पर सन् १५२१ ईस्वी में इन्हीं को राज्य मिला। इस नसरतशाह ने १५३० के लगभग तिरहुत पर चढ़ाई की।[१] इस तर्क के आधार पर मेरी मान्यता के अनुसार विद्यापति की आयु १५५ वर्ष के आसपास होती है, जो बिल्कुल असम्भव है। वस्तुत: यह नसरतशाह और कोई नहीं फिरोज तुगलक का पौत्र था, जिसने १३९४ ईस्वो से १३९९ ईस्वी तक शासन किया और विद्यापति के पद जो आरम्भिक अवस्था के लिखे गए थे, इसी नसरत शाह को समर्पित किये गए हैं।

१४११ ईस्वी में राजा शिवसिंह के सिंहासनारोहण पर विद्यापति ने अवहट्ठ भाषा मे एक छोटी-सी रचना की है, जिसकी पंक्तियाँ ये हैं—

अनल रंध्र कर लक्खन नरवए सक समुद्द कर अगिनि ससी
चैत करि छठि जेठा मिलिओ वार वेहप्पउ ए जाउलसी
विज्जावइ कविवर एहु गावइ मानव मन आनन्द भएओ
सिंहासन सिवसिंह बइट्ठो उच्छवे वैरस विसरि गएओ

२९३ लक्ष्मणाब्द १३२४ शक के चैत मास की कृष्ण षष्ठी ज्येष्ठा नक्षत्र वृहस्पतिवार को संध्याकाल में देवसिंह ने पृथ्वी छोड़कर सुरलोक प्रयाण किया और राजा शिवसिंह सिंहासन पर बैठे। शिवसिंह विद्यापति के सर्वप्रिय आश्रयदाता थे, जिनके नाम के समर्पण के साथ कवि ने ढाई-

---

१. हिस्ट्री ऑव बंगाल चार्ल्स स्टुअर्ट, भाग ४, पृ० १३८, विद्यापति ठाकुर पृ० ४६ पर उद्धृत।

सौ के आस-पास उच्च कोटि के शृंगारिक पदों की रचना की। विद्यापति के द्वारा रचित एक पद में कहा गया है कि शिवसिंह के युद्धक्षेत्र से तिरोधान के बत्तीस वर्ष बाद विद्यापति ने एक स्वप्न में उन्हे देखा और उन्हें अपनी मृत्यु का आभास होने लगा :

सपन देखल हम शिवसिंह भूप
बत्तीस बरस पर सामर रूप
बहुत देखल गुरुजन प्राचीन
अब भेलहुँ हम आयु विहीन

राजा शिवसिंह का तिरोधान १४१५ ईस्वी के आस-पास माना जाता है, ऐसी स्थिति में १४४७ ईस्वी के कुछ बाद विद्यापति की मृत्यु सम्भावित है। श्री शिवनन्दन ठाकुर ने ब्रह्मवैवर्त पुराण से स्वप्न-फल के प्रकरण को मिलाकर यह प्रमाणित करने की कोशिश की है कि स्वप्न के आठ महीने बाद विद्यापति की मृत्यु हुई।[1] किन्तु नेपाल दरबार की लाइब्रेरी में सुरक्षित हलायुध मिश्र की पुस्तक ब्राह्मणसर्वस्व की पाण्डुलिपि विद्यापति के एक शिष्य ने ३४१ लक्ष्मण-संवत् मे की। पाण्डुलिपि के अन्त मे कहा गया है कि लिपि के समय रूपधर विद्यापति के पास पढ़ रहा था।

सत्य तो यह है कि विद्यापति का जन्म-मृत्यु काल नाना प्रकार के सत्यासत्य प्रमाणों के जाल से आच्छन्न है।

डॉ० विमानविहारी मजूमदार सभी प्रमाणों के अध्ययन के बाद निम्नलिखित निर्णय पर पहुँचे हैं—

१—१२८० ईस्वी के आसपास विद्यापति का जन्म।

२—१३९५-९६ ईस्वी के बीच पद लिखकर गियासउद्दिन और नसरत शाह को उत्सर्ग करना। १३९६-९७ ईस्वी के बाद जौनपुर के प्रथम सुलतान ने तिरहुत जीता। १३९७ के बाद नसरत खान के सुलतान पद पर दावा करने के पहले ये दोनों पद लिखे गए थे।

३—१४०० ईस्वी के आसपास नैमिषारण्य निवासी देवसिंह के आदेश से भूपरिक्रमा की रचना।

---

१. महाकवि विद्यापति, पृ० ३६-३९।

४—१४०२-१४०४ ईस्वी के बीच इब्राहिम शाह द्वारा कीर्तिसिंह को मिथिला का सिंहासन प्रदान और उसी समय कीर्तिलता की रचना।

५—१४१० ईस्वी में विद्यापति के आदेश से 'काव्यप्रकाशविवेक' की पोथी की अनुलिपि। इसी समय कवि अलंकार शास्त्र का अध्यापन करते थे। इसी समय पुरुष परीक्षा की रचना और देवसिंह की मृत्यु के पहले अथवा पश्चात् कीर्त्तिपताका की रचना।

६—१४१०-१४१४ ईस्वी के बीच शिवसिंह के राज्यकाल में दो सौ पदों की रचना।

७—१४१८ ईस्वी में द्रोणवार के अधिपति पुरादित्य के आश्रय में राजबनौली में लिखनावली की रचना।

८—१४२८ ईस्वी मे इसो राजबनौला म विद्यापति द्वारा भागवत की अनुलिपि का समाप्त करना।

९—१४३०-४० ईस्वी के बीच पद्मसिंह और विश्वास देवी के नाम से एक पद की रचना और शैवसर्वस्वसार और गंगा-वाक्यावली की रचना।

१०—१४४०-६० ईस्वी के बीच विभाससागर, दान-वाक्यावली और दुर्गाभक्तितरंगिणी की रचना।

११—१४६० ईस्वी में स्मृति के अध्यापक के रूप में ब्राह्मण-सर्वस्व का अध्यापन।

इस दिशा में 'सर्च रिपोर्ट' के अनुशोलन के समय मुझे लखनसेनि कवि को कुछ पंक्तियाँ दिखाई पड़ीं। लखनसेनि कवि का रचना-काल १४८१ सम्वत् दिया हुआ है, यानी १४२४ ईस्वी। रचनाकार जौनपुर के बादशाह इब्राहिम शाह का समकालीन है, और उसने बादशाह के प्रताप की प्रशंसा भी की है, यही नहीं तत्कालीन भारत की अवस्था का जो चित्रण लखनसेनि ने खींचा है वह आश्चर्यजनक रूप से विद्यापति के वर्णन से मेल खाता है।

बादशाह जे वीराहिमसाही, राज करइ महि मंडल माही

आपुन महाबली पुहुमी धावै, जउनपुर मंह छत्र चलावै
सम्बत चौदह सइ एक्यासी, लक्खनसेनि कवि कथा प्रगासी

'जउनपुर' के इब्राहिम शाह का काल १४२४ ईस्वी तक तो था ही। इसी के साथ लक्खन सेनि कुछ और महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों का जिक्र करता है :

जैदेव चले सर्ग की बाटा, और गए घाघ सुरपति भाटा
नगर नरिन्द्र जे गए उनारी, विद्यापति कइ गए लाचारी

इन पंक्तियों से लगता है कि १४२४ ईस्वी तक विद्यापति का शायद स्वर्गवास हो गया था क्योंकि उनका नाम जयदेव और घाघ के साथ ही कवि ने लिया है और जयदेव को तो स्पष्ट ही 'स्वर्ग की बाट' गए, लिखा। किन्तु इस तिथिकाल को विद्यापति का अन्तिम समय मानने में कठिनाई दिखाई पड़ती है। फिर भी यह एक विचारणीय सवाल तो है ही। वैसे कहा जाता है विद्यापति ने लक्ष्मण सम्वत् २९९ यानी १४१८ ईस्वी में राजा पौरादित्य के समय में 'लिखनावली' का निर्माण किया और यहीं ३०९ लक्ष्मण सम्वत् यानी १४२८ ईस्वी में भागवत की एक प्रति लिखना समाप्त किया। यहाँ ईस्वी सन् को १११९ जोड़कर निश्चित किया गया है और इस तरह लखनसेनि का १४२४ वाला काल ठीक नहीं बैठता। विद्वानों ने इस दिशा में कई प्रकार के प्रमाणों के आधार पर विचार किया है, इसी दिशा में मैं एक प्रमाण लखनसेनि का भी प्रस्तुत करता हूँ, अस्तु।[1]

●

---

१. लखनसेनि की रचना हरिचरित्र विराटपर्व का वर्णन १९४४-४६ की सर्च रिपोर्ट (नागरी प्रचारिणी सभा, अप्रकाशित) में दिया हुआ है। रिपोर्ट का अंश नागरी प्रचारिणी पत्रिका में छपा भी है।

जीवन-वृत्त

जैसा कि कवि के काल-निर्णय के सिलसिले में मैंने निवेदन किया है कि विद्यापति के जीवन-वृत्त का पता देने वाली ऐतिहासिक सामग्री का अभाव है। जो कुछ सामग्री प्राप्त होती है वह उनके जीवन से सम्बद्ध एकाध घटनाओं के विषय में यत्किंचित् प्रकाश डालने में ही सक्षम है। ऐसी अवस्था में कवि के जीवन-वृत्त का विवरण केवल उनकी रचनाओं में वर्णित वस्तु-तत्त्व तथा उनके परिपार्श्व मे अभिव्यक्त भावों के भीतर निहित वैयक्तिक संकेतों तक ही सीमित हो सकता है। अर्थात् हम यत्किंचित प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री के प्रकाश में उनके जीवन के सम्बन्ध मे कुछ मोटी धारणाएँ बनाकर उनकी पुष्टि के लिए रचनाओं से कुछ अन्तः साक्ष्य ढूँढ़ सकते हैं। इस प्रकार का कार्य सदा ही खतरे से भरा होता है क्योंकि यह अनिवार्यतः सही नहीं है कि किसी कवि की रचनाओं में अभिव्यक्त भाव-धारा और उसमे उपस्थित घात-प्रतिघात उसके जीवन का प्रतिफलन ही सूचित करें। यह सत्य है कि कवि का जीवन उसकी वैयक्तिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है और वह चाहकर भी अपनी वर्ण्य-वस्तु को उन प्रभावशाली प्रभावों से अलग नहीं कर पाता; किन्तु वर्ण्यवस्तु के साथ संलग्न भावों के आधार पर कवि के जीवन-वृत्त के निर्माण का कार्य सदा आनुमानिक ही कहा जायगा। प्रसिद्ध कवियों के जीवन के साथ किंवदन्तियों का घटाटोप भी कम नहीं होता। लोकप्रियता सदा ही लोक-मानस की रंगीन कल्पनाओं से अभिषिक्त हुआ करती है। जनता के पास अपने प्रिय व्यक्ति के लिए प्रतिदान में समर्पित करने के लिए केवल कल्पना के सुमन होते हैं। इसी कारण जो व्यक्ति जितना ही अधिक लोक-प्रिय होता है उसके व्यक्तित्व के चारों ओर निजंधरी कथाओं का जाल

भी उतना ही सघन होता है। विद्यापति का जीवन-वृत्त भी इसी प्रकार की रंगीन कथाओं से आच्छन्न है। निजंधरी कथायें सर्वथा निर्मूल भी नहीं होतीं। निजंधरी (Legend) का अर्थ ही है जनता के भावों से अलंकृत ऐतिहासिक सामग्री (Folk-embroiderd from historical material)। यह अलंकरण जितना ही अधिक घना होता है, ऐतिहासिक सामग्री का रूप उतना ही धूमिल। इस कारण निजंधरी कथाओं के पेट में से सत्यांश को निकाल पाना बहुत कठिन होता है; किन्तु यह असंभव नहीं है।

विद्यापति का जन्म मिथिला के एक ब्राह्मण-परिवार मे हुआ। १४वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का वह काल मिथिला के लिए विनिपात और दुःख का काल था। मिथिला नरेश गणेश्वर की असलान नामक सुलतान ने २५२ लक्ष्मणाब्द में छलपूवक हत्या कर दी थी। राजा की मृत्यु के बाद देश में भयंकर अराजकता छा गई। विजेता के अत्याचार से पीड़ित जनता न केवल दारिद्र्य का शिकार हुई बल्कि सांस्कृतिक पतन का भी। विद्यापति ने बड़े शोक भरे शब्दों में लिखा है कि मिथिला में कोई गुण अवशिष्ट नहीं रहा, कवि लोग भिखारी बनकर मारे-मारे फिरते रहे। कीर्तिलता में उन्होंने तत्कालीन मिथिला की अवस्था का इतना कारुणिक चित्रण उपस्थित किया है वह न केवल हृदय-द्रावक बल्कि भयोत्पादक भी है। इस परिस्थिति को देखते हुए यह अनुमान करना निराधार न होगा कि कवि का कैशोर दुःखपूर्ण परिस्थितियों की छाया में व्यतीत हुआ। विद्यापति का वंश सदैव से विद्या और वैभव का स्वामी रहा है। उनके पूर्वज कर्मादित्य, देवादित्य आदि न केवल प्रसिद्ध विद्वान् बल्कि अपने समय के उच्च शासनाधिकारी भी थे। विद्यापति ने अपने इतने सम्भ्रान्त और प्रसिद्ध वंश के किसी व्यक्ति का उल्लेख नहीं किया है। इस आधार पर डॉ० विमानविहारी मजूमदार ने यह अनुमान किया कि कवि ने शायद अपेक्षाकृत निम्न परिस्थितियों में रहने के कारण अपने परिवार के व्यक्तियों का उल्लेख नहीं किया। उन्होंने लिखा है कि "आत्मसम्मान के विषय में सचेतन अपेक्षाकृत दरिद्र बुद्धिजीवी व्यक्ति अपने सम्बन्धी बड़े लोगों का परिचय नहीं देना चाहते हैं, क्या इसीलिए विद्यापति ने कहीं भी, किसी ग्रन्थ अथवा

पद में, देवादित्य, वीरेश्वर, गणेश्वर, चण्डेश्वर, गोविन्द दत्त, रामदत्त प्रभृति ख्यातिमान एवं प्रभूत ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों के साथ अपने सम्बन्ध की कोई बात नहीं लिखी है ?"[1] डॉ० मजूमदार स्वयं ही यह प्रश्न शंका के रूप में ही उठाते हैं इसलिए इसके विरोध की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। वैसे यह कथन पूर्णतः निराधार है क्योंकि विद्यापति का पूरा जीवन दुःख और दारिद्रय में नहीं व्यतीत हुआ। और न तो वे अपने सम्भ्रान्त वंश के लिए किसी भी प्रकार असम्मान के कारण ही हो सकते थे। वस्तुतः यह भारतीय कवियों की एक अद्भुत शालीनता रही है कि उन्होंने कभी भी अपने को प्रचारित करने का प्रयत्न नहीं किया। वैसे यह सत्य भी मान लिया जाय कि विद्यापति का जीवन बहुत कष्टमय था और उन्होंने अपनी स्थिति के प्रति आत्मग्लानि के भाव के कारण ही अपने पूर्वजों का नाम लेना उचित नहीं माना तो भी सरस्वती के दुर्ललित पुत्र की अभूतपूर्ण ख्याति में कोई फर्क नहीं आता।

गणेश्वर राजा की मृत्यु के बाद विद्यापति बहुत दिनों तक निराश्रित घूमते रहे। राजकुमार कीर्तिसिंह जो वय में विद्यापति के बराबर ही थे अपने खोये हुए राज्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे, किन्तु वे इस स्थिति में नहीं थे कि कवि को आश्रय दे पाते। विद्यापति इन्हीं दिनों इधर-उधर घूमते हुए नसरतशाह और आजमशाह जैसे राजपुरुषों के सम्पर्क में आये। कवि ने अपने कई पदों में कवि भणिता के साथ इन लोगों के नाम लिए हैं। उदाहरण के लिए :

कविशेखर भन अपरुब रूप देखि
राय नसरद साह भजलि कमलमुखि

अथवा :

भनइ असोधर नव कवि शेखर
पुहवी तेसर कहाँ
साह हुसेन भृंग सम नागर
मालति सेनिक जहाँ

---

१. विद्यापति, डॉ० विमानविहारी मजूमदार द्वारा सम्पादित, भूमिका पृ. ७।

एक पद में उन्होंने ग्यासुदीन का भी नाम लिया है :

वेकताओ चोर गुपुत करि कत खनि
विद्यापति कवि भान
महलम जुगपति चिरे जीवे जीवथु
ग्यासदीन सुरतान

ग्यासदीन सुरतान अर्थात् गियास-उद्दीन आजमशाह ने अपने पिता सिकन्दर शाह से विद्रोह करके ७९३ हिजरी में बंगाल पर अधिकार कर लिया। यदुनाथ सरकार इनका शासन-काल ईस्वी सन् १३८९ से १४०९ तक बतलाते हैं।[1] विद्यापति ने कीर्तिलता में इब्राहिम शाह द्वारा तिरहुत के उद्धार की बात लिखी है। इब्राहिम शाह १४०३ में गद्दी पर बैठा। ऐसी स्थिति में विद्यापति से आजम शाह या ग्यास-उद्दीन की भेंट तब हुई होगी जब कीर्तिसिंह का अभिषेक नहीं हुआ था। नशरत शाह के विषय में हम पीछे विचार कर चुके हैं। जो हो विद्यापति जैसे संस्कारी ब्राह्मण कवि के द्वारा विदेशी मुसलमान-शासकों को, जिनके प्रति उनके मन में आदर का भाव न था जैसा कि कीर्तिलता में उन्होंने स्पष्ट व्यक्त किया है, इन रचनाओं का समर्पित किया जाना इस बात का द्योतक है कि कवि की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। उन्हें अपने तमाम संस्कारों को दबाकर विवशता की हालत में विदेशी शासकों के प्रति श्रद्धा व्यक्त करनी पड़ी।

ईस्वी सन् १४०२-३ में जौनपुर के शासक इब्राहिम शाह की सहायता से तिरहुत का उद्धार हुआ। कीर्तिसिंह ने जौनपुर जाकर सुल्तान से सहायता माँगी। कीर्तिलता में कवि ने जौनपुर का बड़ा विशद वर्णन प्रस्तुत किया है। वहाँ के बाजारों, सड़कों, अट्टालिकाओं तथा टेढ़े-मेढ़े रास्तों का इतना बारीक वर्णन शायद चाक्षुष प्रत्यक्ष बिना संभव नहीं हो सकता। कवि ने राजमहल के वर्णन में मुसलमानी भवन-निर्माण शैली की जानकारी का परिचय भी दिया है। लगता है कि उन्होंने यह सब कुछ अपनी आँखों

---

१. History of Bengal. Vol. II. Page 116.

से देखा है। अन्यथा एक-एक वस्तु का इतना सूक्ष्म चित्रण कठिन होता। उदाहरण के लिए उन्होंने राजमहल का वर्णन करते वक्त केवल उसकी भव्यता का जिक्र ही नहीं किया है बल्कि चहारदीवारी, सदरदर, वारिगाह, षोआरगह, दरबारेखास, आदि हिस्सों का अलग-अलग और सिलसिलेवार विवरण प्रस्तुत किया है। इनसे अनुमान होता है कवि कीर्तिसिंह और उनके भाई वीरसिंह के साथ जौनपुर गए थे। उन्हें बहुत दिनों तक सुलतान के दर्शन की प्रतीक्षा में वहाँ रुकना पड़ा था। विद्यापति ने लिखा है कि सैकड़ों राजे-महाराजे दर्शन की आकांक्षा से आते और किले के सामने वर्षों घूमते रहते, पर दर्शन न मिलता। कीर्तिसिंह ने सुलतान को जाने कितनी अमूल्य वस्तुएँ भेंट मे दीं तब कहीं खुदाबन्द सुलतान प्रसन्न हुए और वजीर की कृपा से भेंट की व्यवस्था हुई। कीर्तिलता की भाषा में न केवल फारसी शब्दों का प्रयोग हुआ है बल्कि अवधी भाषा के भी बहुत से रूप दिखाई पड़ते हैं। इससे लगता है कि विद्यापति जौनपुर अवश्य आये थे। खैर, कीर्तिसिंह का प्रयत्न सफल हुआ। असलान युद्ध-भूमि में पीठ दिखाकर भाग खड़ा हुआ। तिरहुत को लुप्त वैभव फिर मिला, राजा के अभिषेक के समय वाद्य-गीत के स्वरों में विद्यापति ने भी अपने हृदय का उल्लास बिखेर दिया। कीर्तिसिंह के प्रेम-प्रसंगों को लेकर बाद में कवि ने कीर्ति-पताका की रचना की।

ईस्वी सन् १४१० से १४११ के चार वर्षों का समय कवि विद्यापति के जीवन के सर्वाधिक उल्लासपूर्ण वर्ष थे। वर्षों की अशान्ति के बाद एक बार फिर मिथिला में शान्ति और समृद्धि की स्थापना हुई। शिवसिंह राजा थे और लखिमा देवी रानी। विद्यापति को राजा शिवसिंह के द्वारा जो सम्मान प्राप्त हुआ वह अभूतपूर्व था। मैंने पहले ही निवेदन किया है कि विद्यापति दरबारी कवि थे; पर अपनी तरह के। उन्होंने राजा की प्रशस्ति गाई; पर अपने को चारण नहीं राज-सखा समझा। कीर्तिसिंह के प्रसंग में उन्होंने अपने को उनका 'खेलतु कवि' बताया है। शिवसिंह के वे सखा-कवि थे। शिवसिंह की कई रानियाँ थीं; पर लखिमा के सौंदर्य और

बुद्धि का कोई ज़वाब नहीं था। लखिमा पटरानी थी, वह विदुषी थी, सुन्दरी थी और कवयित्री भी थी। कहा जाता है कि अन्त:महल में विद्यापति के गीतों का राजा-रानी के समक्ष सस्वर पाठ होता था। विद्यापति ने समवयस्क राजा और रानी को जो गीत समर्पित किये हैं वे प्राय: राधाकृष्ण के प्रेम, रूपासक्ति, मान और कामकला के विविध पक्षों को स्पष्ट करने वाले हैं। ऐसे गीतों को देखने से मालूम होता है कि कवि का जीवन बहुत सुखी और उल्लासपूर्ण था। मैंने आरम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि मध्यकालीन लेखकों पर, खासतौर से दरबारी कवियों पर कामशास्त्र का बहुत घनिष्ट प्रभाव पड़ रहा था। विद्यापति ने इस प्रकार के श्रृंगारिक पदों के अन्त में कवि भणिता के साथ शिवसिंह के बारे में जो प्रशस्ति वाक्य दिये हैं, वे उनकी कामकला विदग्धता को प्रकट करते हैं। वे सर्वत्र लिखते हैं कि इस गूढ़ रहस्य को लखिमा के साथ रमण करने वाले राजा शिवसिंह समझते हैं। ऐसे प्रसंगों को देखने से अनुमान किया जा सकता है कि विद्यापति शिवसिंह के न केवल मित्र बल्कि अन्तरंग थे। शिवसिंह के प्रति जितने आन्तरिक प्रेम का परिचय इन गीतों से ध्वनित है, वह अपने तरह का है। ऐसा प्रेम शायद ही किसी दरबारी कवि को किसी राजा से प्राप्त हुआ हो। यह विद्यापति के सर्वाधिक उल्लास के दिन थे।

पर समय सदा एक-सा नहीं रहता। विद्यापति के आनन्द की अतिशयता पर नियति की भृकुटि खिंच चुकी थी। राजा ने दिल्ली को कर देना बन्द कर दिया, मुसलमानी फौज ने मिथिला को बरबाद कर दिया और शिवसिंह कैद करके दिल्ली ले जाए गए। संभवत: वहीं उनकी मृत्यु भी हुई। प्रिय राजा के वियोग ने कवि के हृदय के उल्लास-पूर्ण तारों को तोड़ दिया। प्रणय, मांसल सौंदर्य, काम-मुद्रायें और प्रेम की रंगीन दुनिया टकराकर चूर-चूर हो गई। मिलन के मादक गीतों के स्थान पर विरह के उत्तप्त स्वर फूट पड़े। विरह के गीतों के पीछे छिपी इस करुण प्रेरणा को पहचानने का कोई आधार नहीं। लखिमा की अवस्था तो और भी

अधिक शोचनीय रही होगी। मैंने प्रथम अध्याय में लखिमा ठकुरानी के विरह गीत नाम से प्रसिद्ध श्लोकों में से एक उद्धृत किया है। इस श्लोक में विरह की आर्त पीड़ा की बड़ी हृदय-द्रावक विवृति दिखाई पड़ती है। विद्यापति ने अपने प्रिय राजा को विदुषी पत्नी को, जिसक प्रति उनके हृदय में भी प्रेम का मधुर भाव संयोजित था, सान्त्वना देने का बहुत प्रयत्न किया। विरह गीतों के अन्त में सर्वत्र कवि ने विरहिणी को यह आश्वासन दिया है। वे बार-बार कहते हैं कि कामिनी इतनी विह्वल न बन, तेरे प्रियतम अवश्य ही लौटकर आयेंगे। वर्षा के नील मेघों से आच्छन्न धरती को देखकर भरे हृदय से वे कहते हैं कि क्या हुआ यदि वह इस पावस में नहीं आया, कातिक मास के आरंभ में उसका आना तो निश्चित है। विरहिणी पति के वियोग में जीवित चिता में प्रवेश करने की बात किया करती थी, कवि ने इसी को लक्ष्य करके कहा है :

सून सेज मोहि सालय रे
पिय बिनु घर मोयं आजि
बिनति करों सहलोलिनी रे
मोंहि देहि अगिहर साजि
विद्यापति कवि गाओल रे
आनि मिलब प्रिय तोर
लखिमा देई बर नागरि रे
राय सिव सिंह भोर

क्या इस पद से यह ध्वनित नहीं है कि लखिमा शिवसिंह के दारुण विरह को सँभालने में असमर्थ अपने को नष्ट कर देने की बात सोचा करती थी, कवि ने स्पष्ट कहा है, ओ लखिमा, ओ श्रेष्ठ नागरिका, राजा शिवसिंह तुम्हें भूले नहीं हैं, वे शीघ्र ही लौटेंगे। एक दूसरे पद के अन्त में यही बातें फिर दुहराई गई हैं :

भनइ विद्यापति अरे रे कमलमुखि
गुन गाहक पिया तोर

राजा सिवसिंह रूप नरायन
सहज एको नहिं भोर

अथवा :

भनइ विद्यापति गाओल धनि धइरज धर रे
अचिरे मिलत तोहि बालम पुरत मनोरथ रे

पर मनोरथ न पूरा, मात्र शब्दों से झूठी सान्त्वना देने के मिथ्योपचार को विद्यापति खूब समझते थे। प्रिय विश्लेष-दुःख की पीड़ा में अपने सुहाग के प्रति आशंकित विरहिणो को वे सर्वत्र सुहागिनि, कामिनि आदि सम्बोधन से सचेत करते हैं; पर सत्य उनके निकट छिपा न था। इसी कारण विरह के पदों में उनके मन की कातरता छिप न सकी। कवि ने बाद में अपने मन को झूठी बातों से भुलाना छोड़ दिया। हमें पता नहीं कि लखिमा का क्या हुआ। संभवतः प्रिय की विरह पीड़ा की उत्तप्त हवा में यह मुकुलित पुष्प सदा के लिए बिखर कर धूल में मिल गया। जब सान्त्वना चाहने वाला ही न रहा तो फिर आशा की मिथ्या रेखा ही क्यों खींची जाये, कवि ने निराश होकर कहा :

हृदयक वेदन बान समान
आनक दुःख आन नहिं जान
भनइ विद्यापति कवि जय राम
देव लिखल परिनत फल बाम

दैव-दुर्विपाक के सामने कवि ने घुटने टेक दिये। जो कुछ होना था हो गया। आनन्द के क्षण सदा के लिए चले गए।

ईस्वी सन् १४१८ में विद्यापति ने पुरादित्य के राजत्व काल में राजबनौली में लिखनावली की रचना की। लिखनावली में चिट्ठी-पत्री लिखने का तरीका बताया गया है। प्रणय जिसके काव्य की प्रेरणा थी, सौन्दर्य उपादान, अपरूप सौन्दर्य के नवल रूप को वर्षों देखते रहने पर भी जिस कवि के नयन कभी 'तिरपित' नहीं हुए, उसी ने चिट्ठी-पत्री लिखने वालों के लिए लिखनावली का निर्माण किया। लिखनावली की रचना स्पष्ट ही पेट पालने का बहाना है। इसके आधार पर यह कहा जाय कि कवि

के जीवन का वह समय आर्थिक संकट में बीत रहा था, तो शायद अतिशय कल्पनाप्रियता का दोष लगाया जायेगा किन्तु यह कल्पना यहीं तक समाप्त नहीं होती। इसके पक्ष में एकाध प्रमाण और प्राप्त होते हैं। नेपाल-राज की लाइब्रेरी में लक्ष्मण-सम्वत् ३९१ की लिखी हुई, ब्राह्मणसर्वस्व की पाण्डुलिपि सुरक्षित है। इसे विद्यापति के शिष्य रूपधर ने तैयार की थी। हलायुध मिश्र के इस ग्रन्थ के अन्त में पुष्पिका में लिखा है कि लिपिकरण के समय रूपधर विद्यापति के पास ब्राह्मण-सर्वस्व पढ़ा करता था। जाहिर है कि कवि उन दिनों विद्यार्थियों को कर्मकाण्ड और स्मृतिशास्त्र का अध्यापन किया करते थे। मैं नहीं सोचता कि यह उनके जीवन की सम्पन्नता का द्योतक है। विद्यापति जैसे अभिजात रुचि के कवि के लिए यह सब विवशता की अवस्था में ही स्वीकार करना पड़ा होगा।

कष्ट की ऐसी ही परिणत अवस्था में शायद उनके मन में निराशावादी कातरता का उदय हुआ था। मैंने स्पष्ट कहा है कि यह कातरता कवि का स्वभाव नहीं थी। इस प्रकार के जीवन्त, गत्वर और रोमेण्टिक विचारधारा का कवि कभी भी निराशावादी नहीं हो सकता। इसी अवस्था में उन्होंने शिव, दुर्गा, कृष्ण और जानकी आदि के स्तुति-पद भी लिखे। इन पदों में भक्त की दीनता आत्मग्लानि की अभिव्यक्ति है, इसमें शक नहीं। किन्तु इसे हम चाहें तो परम्परा-निर्वाह भी कह सकते हैं। इस प्रकार की दीनता प्रत्येक भक्त कवि रचनाओं में दिखाई पड़ती है। तुलसी, सूर आदि कोई भी इस कायरता से बच न सका, क्योंकि यह कातरता भक्त के व्यक्तित्व की कमजोरी नहीं, गुण मानी जाती थी।

विद्यापति की मृत्यु के विषय में भी कई प्रकार की किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि उन्होंने शिवसिंह के तिरोधान के बत्तीसवें बरस में एक स्वप्न देखा और उन्हें अपनी मृत्यु नजदीक मालूम होने लगी। इस सम्बन्ध में काल-निर्णय वाले प्रसंग में हमने विचार किया है। राजा शिवसिंह का तिरोधान-काल १४१५ ईस्वी माना जाता है, ऐसी अवस्था में विद्यापति का मृत्यु-काल १४४७ ईस्वी माना जा सकता है, किन्तु जैसा कि काल-निर्णय वाले अध्याय में बताया गया, यह संभव नहीं मालूम होता।

रचनायें

विद्यापति ने संस्कृत, अपभ्रंश और भाषा या प्रारम्भिक मैथिली तीनों ही में रचनायें कीं। संस्कृत में उन्होंने शास्त्रीय या स्तुतिपरक रचनायें लिखीं। संस्कृत उस काल में केवल थोड़े से शिष्ट जनों की भाषा रह गई थी। विद्यापति ने संस्कृत को बुधजन की भाषा बताया है। उन्होंने लिखा है कि संस्कृत रस के मर्म को नहीं छूती। देसी भाषा सबसे मीठी है इसीलिए उसी के समान अवहट्ठ में कीर्तिलता काव्य लिख रहा हूँ :

सक्कय वाणी बुहजन भावइ
पाउँअ रस को मम्म न पावइ
देसिल वयना सब जन मिट्ठा
तें तैसन जम्पओं अवहट्ठा

इससे स्पष्ट है कि उनके मन में देसी भाषा के प्रति बहुत प्रेम था। उन्होंने संस्कृत में या अवहट्ठ में काव्य केवल तत्कालीन परम्परा के निर्वाह के लिए ही लिखा। अवहट्ठ में राजा और सामन्तों के युद्ध और प्रेम-प्रसंगों के वर्णन की पद्धति चल पड़ी थी, उस पद्धति का निर्वाह उन्होंने कीर्तिलता और कीर्तिपताका लिखकर किया। संस्कृत भाषा पर उनका अद्भुत अधिकार था किन्तु उनकी संस्कृत रचनाओं का महत्त्व राजनैतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से ही आँका जा सकता है, शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से नहीं। इसीलिए हमने संस्कृत रचनाओं का नामोल्लेख मात्र ही किया है उनका साहित्यिक मूल्याङ्कन नहीं। अवहट्ठ-काव्य का अवश्य ही अपना एक अलग महत्त्व है। इसके विषय में अवहट्ठ काव्य शीर्षक अध्याय में अलग विचार किया गया है।

विद्यापति की रचनायें :

(१) कीर्तिलता—कीर्तिसिंह के शासन काल में उनका राज्य-प्राप्ति के प्रयत्नों पर लिखित।

(२) कीर्तिपताका—कीर्तिसिंह के प्रेम-प्रसंगों पर आधारित।

(३) भू-परिक्रमा—शिवसिंह की आज्ञा से लिखित, भूगोल सम्बन्धी ग्रंथ।

(४) पुरुष-परीक्षा—शिवसिंह की आज्ञा से रचित दण्डनीति-विषयक।

(५) लिखनावली—पुरादित्य के शासनकाल में राजबनौली में लिखित। इसे कवि ने अल्प पठित लोगों को चिट्ठी-पत्री लिखना सिखलाने के लिए लिखा।

(६) शैवसर्वस्वसार—विश्वासदेवी की आज्ञा से, शैव सिद्धान्त विषयक।

(७) गंगावाक्यावली—विश्वासदेवी की आज्ञा से लिखित।

(८) विभागसार—नरसिंह की आज्ञा से रचित।

(९) दानवाक्यावली—धीरमति की संरक्षता में लिखित।

(१०) दुर्गाभक्ति तरंगिणी—धीरसिंह की आज्ञा से।

विद्यापति का यश उपर्युक्त रचनाओं पर आधारित नहीं है। जैसा कि निवेदन किया गया; ये रचनायें एक खास उद्देश्य से किसी न किसी राजा रानी के प्रीत्यर्थ लिखी गईं। इनमें कवि के वैयक्तिक कर्त्तव्य, उत्तर-दायित्व और आश्रयदाता राजा की आज्ञा का पालन प्रमुख है उनके हृदय के भाव या अनुभूतियाँ नहीं। इन रचनाओं के अतिरिक्त विद्यापति ने ५०० से अधिक पद लिखे हैं। ये पद ही उनकी अक्षय कीर्ति के आधार हैं। राजदरबार के दमघोंट वातावरण में रहते हुए भी उन्होंने इन्हीं पदों के सहारे अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखा। इन पदों में कवि की आत्मा के स्वर हैं, उनके हृदय के कंपन हैं। इन पदों में कवि ने राजाओं के विलास की नहीं, जनता के सहज हृदय की भावनाओं की अभिव्यक्ति की है। पदावली के पद कई राजा-नवाबों को समर्पित हुए हैं। इनमें देवीसिंह, शिवसिंह और लखिमा, पद्मसिंह और विश्वासदेवी, शिवसिंह के चचेरे भाई अर्जुन और अमर, राघवसिंह, रुद्रसिंह, नरसिंह और धीरमति तथा शिवसिंह के चचेरे भाइयों के लड़के धीरसिंह, भैरवसिंह तथा चन्द्रसिंह आदि के नाम आते हैं।

●

पदावली के विभिन्न पाठ

विद्यापति के पदों का संकलन कार्य बहुत पहले से होता आ रहा है। इतने ख्यातिप्राप्त कवि के इन मधुरपदों को प्रत्येक मनुष्य अपनी सम्पत्ति समझता है, इसी कारण कवि के समय से आज तक जाने कितने व्यक्तियों ने इन पदों को अपने उपयोग के लिए संगृहीत किया होगा। किन्तु इस प्रकार के संग्रह लोकप्रियता की सूचना ही देते हैं, रचनाओं की प्रामाणिकता की नहीं। रचनाओं की प्रामाणिकता केवल पाठ-विशेषज्ञों द्वारा प्रयत्नपूर्वक सम्पादित–संग्रह से ही प्रकट हो सकती है। विद्यापति के पदों का संग्रह जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, चन्द्रा झा, नगेन्द्रनाथ गुप्त, रामवृक्ष बेनीपुरी, आदि ने किया है। इन संग्रहों में केवल आकर पोथियों का ही उपयोग नहीं किया गया बल्कि जन-मुख से सुने हुए पदों को भी संकलित कर लिया गया। परिणामतः ये संकलन विद्यापति के पदों की बढ़ती हुई संख्या को सूचित करते हैं, किन्तु वे कितने प्रामाणिक हैं यह जानना कठिन हो जाता है।

विद्यापति के पदों के हस्तलिखित संग्रह मिथिला, नैपाल और बंगाल में सुरक्षित हैं। मिथिला की पोथियों में शिवनन्दन ठाकुर द्वारा प्राप्त रामभद्रपुर की पाण्डुलिपि, रागतरंगिणी तथा तरौणी की ताल-पत्र पोथी-प्रमुख हैं। राग-तरंगिणी लोचन कवि की कृति है जिसमें यथावसर विद्यापति के ५१ पद संकलित हैं। यह ग्रंथ लोचन कवि ने सत्रहवीं शताब्दी में महीनाथ ठाकुर के राजत्वकाल में लिखा था, क्योंकि उन्होंने ग्रंथ में एक स्थान पर स्पष्ट लिखा है :

धीरश्री महिनाथ भूप तिलकः शास्तेधुना मैथिलान्

(मंगलाचरण, षष्ठ श्लोक)

सातवें श्लोक को देखने से मालूम होता है कि इस ग्रंथ की रचना कवि ने महीनाथ के छोटे भाई नरपति की आज्ञा से की।

इस प्रकार राग-तरंगिणी की प्रति बहुत पुरानी नहीं है। यह विद्यापति की मृत्यु ढाई सौ वर्ष बाद लिखी गयी है। लेखक ने कवि के इन ५१ पदों को कहाँ से संकलित किया है इसकी कोई सूचना नहीं मिलती। रागतरंगिणी के ५१ पदों में तीन में विद्यापति का नाम नहीं आता किन्तु उनके नीचे कवि लोचन ने 'इति विद्यापतेः' लिखा है। जिससे मालूम होता है कि ये पद विद्यापति के ही हैं। दो पदों में कवि के नाम के स्थान पर 'कण्ठहार' भणिता दी हुई है जो उनकी एक उपाधि थी।

मिथिला की दूसरी पोथी रामभद्रपुर की है जिसे शिवनन्दन ठाकुर ने प्राप्त किया था। यह पोथी मूलतः पंडित विष्णु लाल झा को मिली थी जिन्होंने ठाकुर को इसकी प्राप्ति की सूचना दी। ठाकुर ने इस पोथी से पदों को उतारकर 'विद्यापति विशुद्धि पदावली' शीर्षक से अपनी पुस्तक महाकवि विद्यापति में प्रकाशित किया। यह पाण्डुलिपि काफी पुरानी है, इसमें सन्देह नहीं। तालपत्रों पर लिखी इस पोथी में चार लिपिकारों के हस्ताक्षर हैं। सभी तालपत्र भी एक जैसे पुराने नहीं मालूम होते। डॉ० विमान विहारी मजूमदार का अनुमान है कि कोई अक्षर अथवा तालपत्र दो सौ वर्षों से कम का नहीं है। इस पोथी में ३५ पत्र संलग्न हैं, शेष नष्ट हो गए हैं। उपलब्ध पदों की संख्या ९६ है जिनमें ८६ पदों को स्व० शिवनन्दन ठाकुर ने प्रकाशित कराया था।

मिथिला की तीसरी पोथी तरौणी की तालपत्र पोथी कही जाती है। यह पोथी अब प्राप्त नहीं होती इसलिए इसके विवरण आदि के लिए श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त की सूचनाओं पर ही अवलम्बित होना पड़ता है। उन्होंने लिखा है कि इस पोथी में प्रायः ३५० पद थे जिन्हें उन्होंने अपने संस्करण में प्रकाशित किया था।

नेपाल में प्राप्त होने वाली पोथी नेपाल सरकार की लाइब्रेरी में सुरक्षित है। स्व० काशीप्रसाद जायसवाल और डॉ० अनन्त प्रसाद बन्द्योपाध्याय ने दरभंगा नरेश की आज्ञा से इसकी फोटो कापी तैयार की थी।

इस फोटो कापी का प्रथम खंड पटना कालेज लाइब्रेरी में और दूसरा पटना विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी में सुरक्षित है।

नेपाल पोथी की लिपि प्राचीन मैथिली ही है। इस पोथी में पदों की संख्या २८७ है।

बंगाल में विद्यापति के पद बहुत लोकप्रिय रहे हैं। गौडीय वैष्णव भक्तों ने विद्यापति के गीतों को बड़ी सावधानी से सुरक्षित किया है। सबसे प्राचीन पोथी 'क्षणदागीत चिन्तामणि' है जिसे विश्वनाथ चक्रवर्ती ने ईस्वी सन् १७०५ के आस-पास तैयार किया।

बंगाल में तैयार की गई दूसरी पोथी पदामृतसमुद्र है जिसे संकलन कर्ता राधामोहन ठाकुर हैं। अनुमानतः अट्ठारहवीं शताब्दी में इन्होंने इस ग्रंथ का संकलन किया। इसमें कुल ७४६ पद हैं जिनमें उनके स्वरचित पदों की संख्या २२८ और गोविन्द दास के पद संकलित हैं। इस संकलन में संगृहीत विद्यापति के पदों पर बंगला का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। उच्चारण के कारण तो परिवर्तन हुआ ही है, मैथिली के प्रयोगों के स्थान पर बंगला प्रयोग दिए गए हैं जिससे भाषा में बहुत अन्तर आ गया है।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में गोकुलानन्द सेन अर्थात् वैष्णवदास ने पद कल्पतरु का संकलन किया। वैष्णव पदावली के सभी संग्रहों में यह वृहत्तम है। इसमें ३१०१ पद हैं। इसमें विद्यापति के १६१ पद हैं। डॉ० विमानविहारी का ख्याल है कि इस संग्रह में संकलित विद्यापति भणिता से युक्त सभी पद मैथिली कवि विद्यापति की ही रचनायें नहीं हैं।

देशबन्धु चितरंजन दास के पास संकीर्तनामृत की पोथी उपलब्ध थी। इस संग्रह को १७७१ ईस्वी में दीनबन्धु दास ने तैयार किया था। इसमें चालीस कवियों के ४९१ पदों का संग्रह है। इसमें विद्यापति के रचे हुए केवल दस पद हैं।

विद्यापति के पदों के उपलब्ध इन विविध बातों की प्रामाणिकता पर विचार करने की आवश्यकता नहीं. क्योंकि जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर डॉ० विमानविहारी मजूमदार ने अपनी पुस्तक 'विद्यापति' में तथा डॉ० सुभद्र झा ने सांस ऑव विद्यापति में विस्तार से विचार किया है।

जीवन-दृष्टि और धार्मिक मान्यताएँ

कोई भी कवि या लेखक अपने वातावरण से अलग होकर नहीं जाता। वातावरण कवि के जीवन को, उसके व्यक्तित्व को परोक्ष और अपरोक्ष दोनों ही रूपों में कई प्रकार से प्रभावित करता रहता है। यह सत्य है कि कवि केवल वातावरण की उत्पत्ति नहीं है, वह वातावरण,—सांस्कृतिक और सामाजिक दोनों प्रकार के वातावरण का,—निर्माता भी है। किन्तु निर्माण की यह शक्ति, या उसे बदलने की यह क्षमता भी कवि को उसी से प्राप्त होती है। देश-काल की सांस्कृतिक स्थिति किसी कवि के काव्य को प्रभावित करने मे समर्थ होती है। श्री हिपोलाइत टेन ने लिखा है कि काल और देश कवि के निर्माण में निर्णायक तत्त्व माने जाते हैं। टेन के विचारों को ही आगे चलकर समाजशास्त्री आलोचकों ने बहुत विकसित किया। फ्रांसीसी आलोचक वातावरण के इस पूरे प्रभाव को व्यक्त करने के लिए 'मिलियू' (Milieu) शब्द का प्रयोग करते हैं। वातावरण के सम्यक् अध्ययन के अभाव में हम कभी-कभी किसी कवि के काव्य के अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर या कभी-कभी केवल अनुमान के बल पर उसकी जीवन-दृष्टि तथा धार्मिक मान्यताओं आदि के बारे में नानाप्रकार के विवाद उपस्थित कर देते हैं। कवि विद्यापति के विषय में भी इसी प्रकार के विवाद चलते हैं। विद्यापति भक्त थे या शृंगारिक, शैव थे या शाक्त, रहस्यवादी थे या मात्र लौकिक, आदि आदि। इन सभी प्रश्नों का उत्तर विद्यापति के समय की सांस्कृतिक और धार्मिक अवस्थाओं के अध्ययन तथा कवि की जीवन दृष्टि के विश्लेषण के आधार पर ही दिया जा सकता है।

विद्यापति को बहुत से आलोचक रहस्यवादी कवि मानते हैं। जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने विद्यापति के काव्य के अन्तःस्रोतों का विचार करके यह निश्चित किया कि "राधा और कृष्ण वस्तुतः प्रतीक हैं। राधा जीवात्मा का प्रतीक है जब कि कृष्ण परमात्मा का प्रतीक हैं। जीवात्मा परमात्मा से मिलन के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। यह प्रयत्न तब तक अप्रतिहत रूप से चलता रहता है जब तक जीवात्मा परमात्मा में लय होकर सायुज्य लाभ नहीं कर लेता। जीवात्मा अपने सांसारिक प्रपंचों और माया के पाशों में इस प्रकार आबद्ध है कि वह अपनी आन्तरिक प्रेरणा से परमात्मा को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न नहीं करता। इसीलिए उसे ईशोन्मुख करने के लिए गुरु की आवश्यकता होती है। विद्यापति के काव्य में दूती इसी गुरु का प्रतीक है। यह दूती जीवात्मा या प्रेमिका को निरन्तर परमात्मा से मिलने के लिए प्रेरित करती है। इतना ही नहीं इस अभिसार या प्रेम-मिलन के प्रत्येक कार्य में वह उसकी सहायता भी करती है।"[1] श्री नगेन्द्र नाथ गुप्त ने, जिन्होंने विद्यापति के पदों को एकत्र संगृहीत किया, अपने एक भाषण में विद्यापति को रहस्यवादी बताया।[2]

श्री जनार्दन मिश्र ने भी विद्यापति को रहस्यवादी बताया है। उन्होंने लिखा है कि 'विद्यापति के समय में रहस्यवाद का मत जोरों पर था, उसके प्रभाव से बच कर निकलना और किसी अधिक निष्कंटक मार्ग का अनुसरण करना उन्हें शायद अभीष्ट न था। अथवा अभीष्ट होने पर भी तुलसीदास की तरह अपने वातावरण के विरुद्ध जाने की शक्ति इनमें न थी। इसीलिए स्त्री और पुरुष के रूप में जीवात्मा और परमात्मा की उपासना की जो धारा उमड़ रही थी उसमें उन्होंने अपने को बहा दिया।'[3] श्री जनार्दन मिश्र ने अपने मत को पुष्टि के लिए जिस पद को उद्धृत किया है उसे भी देख लेना चाहिए। वह पद नीचे दिया जाता है :

---

१. Grierson, Maithili Crestomathy, Page 36.

२. पटना विश्वविद्यालय मे १९३५ ई० मे विद्यापति पर दिये गए भाषण से।

३. विद्यापति, पृ० ४७।

एक दिन छलि नवनीत रे
जल मिन जेहन पिरीत रे
एकहिं वचन विच भेल रे
हँसि पहु उतरो न देल रे
एकहि पलंग पर कान्ह रे
मोर लेख दूर देस भान रे

इस पद में जीवात्मा का अहंकार तथा बाद में उसकी 'ग्लानि' का चित्रण है। पलंग शरीर है—जहाँ आत्मा के रूप में परमात्मा निरन्तर हृदय में निवास करता है; किन्तु अज्ञान में पड़े जीव के लिए वह जाने कितनी दूर है।

श्री कुमारस्वामी भी विद्यापति के पदों में रहस्यवादी भावों का प्रभाव देखते हैं। 'सांग्स ऑव विद्यापति' में श्री कुमारस्वामी ने लिखा[१] कि विद्यापति का काव्य गुलाब है, गुलाब। चारों तरफ से केवल गुलाब। यह आनन्द-निकुञ्ज है। यहाँ हमें उस स्वर्ग का दर्शन होता है—वृन्दावन की कृष्णलीला शाश्वत है। वृन्दावन मनुष्य का हृदय देश है। जमुना का किनारा इस संसार का प्रतीक है जो राधा और कृष्ण अर्थात् जीव और ईश्वर की लीला-भूमि है। वंशी की आवाज अदृश्य सत्ता की आवाज है, जीव को परमात्मा की ओर अग्रसर होने का आह्वान है।

कुमारस्वामी के मतों का जोरदार विरोध करते हुए श्री विनयकुमार सरकार ने अपनी पुस्तक 'लव इन हिन्दू लिटरेचर' में लिखा कि कुमारस्वामी जैसे विद्वान् दार्शनिक, कवि, आलोचक की सबसे बडी कमजोरी,

---

१. Vidyapati is roses, roees all the way, is a Bower of Bliss there we have the early paradise as it were of an Indian Willium Morris—Jamuna bank in Vaishnva literature stands for this world regarded the constant meeting place; of Radha and Krishna where amidst the affairs of daily, life the soul is arrested, beguiled to her undoing in the flute of Krishna there is call of Infinite.

जो उन्हें इस प्रकार की द्विधापूर्ण और असम्बद्ध बातें कहने के लिए प्रेरित करती है, वह यह कि वे कभी भी यह मानने को तैयार नहीं हैं कि वस्तुतः विद्यापति के काव्य की प्रेरणा में श्रृंगार और काम-वासना है। केवल श्रृंगार और काम-वासना। श्रृंगार की भावना कभी दूषित नहीं है और न तो विद्यापति को इसके लिए किसी के सामने सफाई देने की ही जरूरत है। श्रृंगार स्वतः महान् है, वह अपनी महत्ता के लिए किसी का मुखापेक्षी नहीं है।

आगे चलकर विनयकुमार सरकार ने लिखा है कि वस्तुतः कुमार-स्वामी जिन्होंने अपनी धारणा बना रखी है कि विद्यापति के श्रृंगारिक वर्णन भारतीय पारिवारिक जीवन की मर्यादा का उल्लंघन करते हैं, इसे तोपने के लिए विद्यापति के मांसल, ऐन्द्रिक प्रेम-वर्णनों को आध्यात्मिक बनाने का असफल प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः वे विद्यापति की ओर से उनकी प्रेम-भावना के लिए जो मनुष्य के मन को ऊपर उठाती है, ऐन्द्रिकता समझकर सफाई देने के लिए प्रयत्नशील हैं ; किन्तु वे लाख प्रयत्न करके भी राधा-कृष्ण के प्रेम-वर्णन के प्रत्येक प्रसंग को जीव की ब्रह्मोन्मुखी साधना प्रमाणित नहीं कर सकते। वह चाहें भी तो पार्थिव तत्त्वों, गन्दगी, धूल, अपूर्णता, अतृप्ति, स्त्री के हृदय, मनुष्य के प्रेम, ऐन्द्रिय-सुख को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। विनयकुमार सरकार के मत से "ऐन्द्रिक भावना का मानवीय सम्बन्धों के बीच इतना सुन्दर सम्मिश्रण और इतने ऊँचे स्तर का चित्रण भारतीय साहित्य में विद्यापति के अलावा और किसी ने प्रस्तुत नहीं किया है।"[१]

इस प्रकार हमने देखा कि ग्रियर्सन, जनार्दन मिश्र, कुमारस्वामी जसे विद्वान् विद्यापति के राधाकृष्ण प्रेम-वर्णन को रहस्यवादी बताते हैं जब कि विनयकुमार सरकार और बहुत से दूसरे लोग इसे नितान्त श्रृंगारिक, सौ फीसदी श्रृंगारिक कहते हैं। जनार्दन मिश्र ने विद्यापति के रहस्यवादी होने का एक कारण यह भी बताया है कि उस समय रहस्यवादी धारा

---

१. Love in Hindu literature, Page 20-21.

की प्रधानता थी, विद्यापति इससे बच न सके और उसमें बह गये। रहस्यवादी धारा से उनका तात्पर्य क्या है यह तो स्पष्ट नहीं हो सका; किन्तु तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों का अध्ययन करनेवाला उनके संकेत को अवश्य ही समझ सकता है। रहस्यवादी साहित्य जो विद्यापति के समय में या उनके पूर्व लिखा जा रहा था वह या तो सिद्ध साहित्य था या परवर्ती सूफी साहित्य। रहस्यवादी प्रवृत्ति अपने शुद्ध रूप में सिद्ध-साहित्य मे नहीं दिखाई पड़ती, फिर भी सिद्ध साहित्य के अन्तर्गत रहस्य-वादी प्रवृत्ति का एक रूप है अवश्य। सिद्धों का रहस्यवाद आधुनिक रहस्यवाद से थोड़ा भिन्न है। भिन्न इस अर्थ में कि आधुनिक रहस्यवाद न तो दार्शनिक शब्दों या साम्प्रदायिक नियमों से आक्रान्त है और न तो इसमे पुराने मध्यकालीन रहस्यवादी सिद्धों की तरह गुह्य-साधना का घटाटोप है। फिर भी पुराने सिद्धों की रहस्यवादी भावना पर विचार करने पर इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि विद्यापति पर इनका प्रभाव कम से कम दिखाई पड़ता है।

डॉ० सुभद्र झा ने ग्रियर्सन आदि के मत का विरोध करते हुए लिखा है कि "भारतीय प्रतीकवादी (रहस्यवादी) कवियों की कविताओं में जैसे जायसी या कबीर के काव्य में, जीवात्मा को परमात्मा से मिलने के लिए प्रयत्नशील दिखाया जाता है। परमात्मा एक स्वतः परिपूर्ण सत्ता होने के कारण निरपेक्ष है और वह न तो जीवात्मा से मिलने के लिए इच्छुक होता है और न तो कोई आह्वान करता है। कबीर का 'सांई' या जायसी की 'पद्मावती' जो ब्रह्म के प्रतीक हैं, 'बहुरिया' या 'रत्नसेन' के लिए आकांक्षा व्यक्त नहीं करते।"[१] मैं विद्यापति को रहस्यवादी कवि नहीं मानता, पर ग्रियर्सन आदि की स्थापना के विरोध में उपर्युक्त मत बहुत सबल नहीं प्रतीत होता। अगर प्रतीक की दृष्टि से कथा के व्यापक प्रसंगों का ब्योरेवार अर्थ बिठलाया जाने लगे तो कबीर का सांई जाने कितनी बार कबीर पर रंग डालता है :

---

१. Songs of Vidyapati, by Dr. Subhadra Jha, Page 183.

सतगुरु हो महाराज साईं मो पर रंग डारा

यही नहीं 'राजा राम भरतार' कबीर के घर आते हैं और वे सखियों से मंगलन-गान गाने की प्रार्थना करते हैं। उसी प्रकार जायसी की पद्मावती रत्नसेन के कैद हो जाने पर उसे छुड़ाने के लिए न केवल प्रयत्न करती है बल्कि उसकी मृत्यु के बाद चिता में जलकर अपने शरीर को क्षार भी कर देती है। इसलिए राधा और कृष्ण के उभयपक्षी सक्रिय प्रेम को डॉ० झा के तर्क के आधार पर अरहस्यवादी सिद्ध करना कठिन है। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने निर्गुण सन्तों के प्रेम के विषय में ठीक ही लिखा है कि 'भक्त का भगवान के साथ एक व्यक्तिगत सम्बन्ध है। भगवान् या ईश्वर कोई शक्ति या सत्तामात्र नहीं है; बल्कि एक सर्वशक्तिमान् व्यक्ति है जो कृपा कर सकता है, प्रेम कर सकता है, उद्धार कर सकता है, अवतार ले सकता है।'[1] इसलिए विद्यापति के कृष्ण यदि राधा के रूप से आकृष्ट हैं, या उससे प्रेम करते हैं या उसके प्रेम का प्रतिदान देते हैं, तो इससे उनके सर्वशक्तिमान ईश्वर रूप में कोई त्रुटि नहीं आती।

विद्यापति पर रहस्यवाद का प्रभाव, खास तौर से सिद्ध सूफी रहस्यवाद का प्रभाव, नहीं दिखाई पड़ता। क्योंकि सिद्ध और सूफी दोनों ही जिन प्रतीकों का प्रयोग करते हैं, वे विद्यापति में नहीं पाये जाते। विद्यापति में न तो सिद्धों की सहज समाधि है, न षट्चक्र, न कुंडलिनी, न हठयोग और न तो मन के भीतर ही साधना द्वारा आत्मलय होने की प्रक्रिया। विद्यापति न माया की बात करते हैं, न ब्रह्म की और न तो किसी सद्गुरु की शरण में जाने का उपदेश देते हैं। उन्हें 'सबद' की चोट नहीं लगती और न तो अनाहत नाद का आकर्षण खींचता है। वे किसी अखण्ड नाद को जो जगत् के अन्तस्तल में निरन्तर गूँजता रहता है, सुनने के लिए कभी दौड़े नहीं। न उसकी चर्चा की, न तो क्रिया-विशेष से सुषुम्ना के पथ को उन्होंने उन्मुक्त किया और न तो कुंडलिनी

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ८५।

जगाकर ब्रह्मरंध्र में पहुँचाने का प्रयत्न ही किया। न तो उपाधिरहित शब्द के प्रणव तत्त्व की बात करते हैं। न तो अखण्ड सत्ता रूप ब्रह्म के वाचक स्फोट की चर्चा करते हैं। उसी प्रकार उनके यहाँ 'महासुह' का वर्णन नहीं है। न माया का तरुवर है और न पंच विडाल। विद्यापति पर सूफी रहस्यवाद के प्रभाव की बात उठाना भी व्यर्थ है। सूफी धर्म का प्रचार शुरू हो गया था इसमें कोई शक नहीं, पर मिथिला की तरफ १४वीं शताब्दी में इसके प्रचार के संकेत-प्रमाण उपलब्ध नहीं होते हैं। होते भी हों तो विद्यापति के काव्य में इनका प्रभाव ढूँढ़ना अनुचित है। सूफी रहस्यवाद का प्रभाव यदि विद्यापति पर होता तो शक्ति, विष्णु, माधव, राधा, शिव आदि बहुदेवों की स्तुति वे नहीं गाते क्योंकि सूफी धर्म मूलतः एकेश्वरवादी है। सूफीमत बहुत-सी बातों में भारतीय अद्वैत मत से मिलता-जुलता है। यह सत्य है कि सूफी साहित्य में भी प्रेम-साधना पर ही जोर दिया गया है। कुछेक विद्वान् इसीलिए कभी-कभी रागानुगा कृष्ण-भक्ति को सूफी रहस्यवादी काव्य की प्रेम-पीर वाली प्रवृत्ति का प्रभाव भी मानने लगते हैं; किन्तु विद्यापति के राधा-कृष्ण-प्रेम में सूफी प्रेम-पद्धति से लेशमात्र भी साम्य नहीं है। विद्यापति जैसे ब्राह्मण के संस्कारी चित्त में इस विदेशी पद्धति का प्रभाव पड़ना कठिन था भी। यदि राधाकृष्ण के प्रेम में सूफी मत का प्रभाव ढूँढ़ा जा सकता है तो जयदेव के गीतगोविन्द में तथा अन्य संस्कृत-प्रेम-काव्यों में भी इसके प्रभाव का अनुमान बिठलाया जा सकता है। राधा-कृष्ण का प्रेम सौ-फीसदी भारतीय है। यह प्रेम रहस्यवादी नहीं है; क्योंकि इसमें न तो गुह्य उपासना है और न तो प्रतीकवाद। राधा जीव का प्रतीक हो सकती है; किन्तु कृष्ण ब्रह्म के प्रतीक नहीं, वे साक्षात् ईश्वर हैं—इसलिए रत्नसेन और पद्मावतीवाली प्रतीक-पद्धति भी यहाँ बैठती नजर नहीं आती।

विद्यापति के राधाकृष्ण-प्रेम-प्रसंग में रहस्यवादिता की गन्ध खोजने वाले लोगों की खिल्ली उड़ाते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि

"आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गए हैं। उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने गीतगोविन्द के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी। सूर आदि कृष्ण-भक्तों के शृंगारी पदों की भी ऐसे लोग आध्यात्मिक व्याख्या चाहते हैं। पता नहीं बाल-लीला के पदों का वे क्या करेंगे। इस सम्बन्ध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि लीलाओं का कीर्तन कृष्ण-भक्ति का एक प्रधान अंग है। जिस रूप में लीलाएँ वर्णित हैं उसी रूप में उनका ग्रहण हुआ है और उसी रूप में वे गोलोक में नित्य मानी जाती हैं। जहाँ वृन्दावन यमुना, निकुंज, कदंब, सखा, गोपिकाएँ इत्यादि सब नित्यरूप में हैं, इन लीलाओं का दूसरा अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं।"[१] शुक्ल जी ने लीलाओं को नित्य माना और यह भी स्वीकार किया कि इनका कीर्तन कृष्ण-भक्ति के प्रसंग में चलता है; पर विद्यापति के पदों में वे भक्ति के तत्त्व का समावेश स्वीकार करना नहीं चाहते। सूर आदि भक्तों के शृंगारी पद लीला-कीर्तन होने के कारण भक्ति के अन्तर्गत परिगणित हो सकते हैं, तो विद्यापति के शृंगारी पद क्यों नहीं? इसका उत्तर देते हुए शुक्ल जी ने कहा कि 'विद्यापति शैव थे, उन्होंने इन पदों की रचना शृंगार-काव्य की दृष्टि से की है, भक्त के रूप में नहीं। विद्यापति को कृष्ण-भक्तों की परम्परा में नहीं समझना चाहिए।'[२] विद्यापति शैव थे, इसलिए कृष्ण भक्ति के पद नहीं लिख सकते और इसलिए उनके पदों को शृंगार के पद मानना चाहिए, कृष्ण-भक्ति के नहीं, यह बहुत अच्छा तर्क प्रतीत नहीं होता।

श्री शिवनन्दन ठाकुर और अन्य कई आलोचकों ने यह माना है कि विद्यापति शैव थे। श्री शिवनन्दन ठाकुर ने विद्यापति को शैव प्रमाणित करने के लिए कई तर्क दिये हैं। अन्त में तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों का सारांश देते हुए उन्होंने लिखा कि "विद्यापति के समय में मिथिला

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५७-५८।

२. वही, पृ० ५७।

में तान्त्रिक उपासना की प्रबलता थी। विद्यापति के ऊपर इसका प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। सम्भव है जब तक विद्यापति अपनी उपासना का रूप स्थिर नहीं कर पाये थे जब तक वे शक्ति के उपासक थे और ब्रह्मा, विष्णु, महेश से भी शक्ति की उपासना करवाते थे। इस समय भारत में विशिष्टाद्वैत मत का स्पष्ट प्रचार हो रहा था। उसके अनुसार विष्णु-लक्ष्मी, राधा-कृष्ण आदि युगल-मूर्ति की उपासना की धारा बह चली थी, विद्यापति ने जब अपनी उपासना का रूप स्थिर किया और शिव जी को अपना इष्टदेव बनाया तब शाक्त विशिष्टाद्वैत मतों से प्रभावित होने के कारण शिव जी को अपना इष्टदेव नहीं रखकर युगल-मूर्ति गौरी-शंकर को अपना इष्टदेव बनाया। विद्यापति ने कहा :

लोढ़ब सुकुम तोड़ब बल पात
पूजब सदाशिव गौरी के सात

इसमें शक नहीं कि विद्यापति ने शिव-गौरी पर कई स्तुतिपरक पद लिखे हैं प्रसंस वश यहाँ उनके एतत्सम्बन्धी कुछ पदों पर विचार कर लेना चाहिए। इसमें से कुछ पद केवल शंकर की स्तुति के हैं, कुछ अर्धनारीश्वर रूप में शंकर-उमा दोनों के। कुछ पद उमा शंकर विवाह के प्रसंग के हैं। ऐसे पदों में लेखक ने शंकर में ईश्वरत्व-बुद्धि के साथ ही साथ जन-सामान्य की वैवाहिक रीति-पद्धति का भी समावेश किया है। ऐसे पदों में तत्कालिक मिथिला के विवाहों में होने वाले हास-विनोद आदि के भी सांकेतिक चित्र सामने आते हैं। विवाह के अवसर पर शंकर-पार्वती के विवाह-गीत आज भी पूर्वी प्रदेशों में गाये जाते हैं। ऐसे समय पर वरपक्ष की कुरूपता और दरिद्रता का झूठा बयान करके एक खास प्रकार का विनोद पैदा करने की परिपाटी चलती है। इस परिपाटी में शंकर-पार्वती के विवाह-गीत बहुत फिट बैठते हैं। विनोद में कन्या के सौभाग्य का वर्णन भी रहता है। इसलिए इस प्रकार के माङ्गलिक गीत बहुत प्रचलित रहे हैं। उदाहरण के लिए विद्यापति का एक छोटा गीत देखिए :

हम नहि आज रहब यहि आंगन
जो बुढ़ होएत जमाई, गे माई।
एक त बइर भेल बीध बिधाता
दोसर धियाकर बाप,
तेसर बइर भेल नारद बामन
जे बुढ़ आनल जमाई गे, माई
पहिलुंक बाजन डामरु तोरब
दोसरि तोरब मुंड माल
बरद हाँकि बरियात बेलाइब
धिया लै जाएब पराई, गे माई
धोती लोटा पतरा पोथी
एहो सब लैबन्हि छिनाई
जौं किछु बजता नारद बामन
दाढ़ी धएब घिसिआएब, गे माई
भन विद्यापति सुनु हे मनाइन
दढ़ करु अपन गेयान
सुभ सुभ कए सिरी गौरी बिआहू
गौरी हर एक समान, गे माई।

कन्या के भविष्य के बारे में माँ की चिन्ता, ईश्वर का फटेहाल दूल्हा बनकर आना, नारद ऋषि की दुरवस्था और व्यंग-विनोद के अन्तराल में पार्वती के अशेष मंगल और सौभाग्य की सदिच्छा कितने सुन्दर ढंग से व्यक्त हुई है। पं० शिवनन्दन ठाकुर के कथन में कोई तथ्य नहीं मालूम होता, हाँ एक बात उन्होंने अलबत्ता अनजाने में स्वीकार कर ली है जो विद्यापति के काव्य की धार्मिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए जरूरी है, वह यह कि उस समय मिथिला में विशिष्टाद्वैत मत का प्राबल्य था। डॉ० सुभद्र झा ने लिखा है कि "गौरी-शंकर के विवाह-गीत मिथिला में विवाह के अवसर पर गाये जाते हैं। शिवनन्दन ठाकुर विद्यापति को शैव

मानते हैं इसीलिए उनके द्वारा वर्णित राधा-कृष्ण प्रेम को सामान्य शृंगार-काव्य की कोटि में ही रखना चाहते हैं। उनका कहना है कि मिथिला में ईश्वर की पूजा पति के रूप में कभी नहीं होती थी।"[१] डॉ० सुभद्र झा ने ठाकुर के इस मत को गलत बताया है और उन्होंने विष्णुपुरी की कविताओं का उद्धरण देकर बताया है कि "मिथिला में प्रेम-भक्ति की कविताएँ लिखी गई थीं।"[२] खैर, हम यहाँ शिवनन्दन ठाकुर तथा आचार्य शुक्ल के इस तर्क पर विचार करना चाहते हैं कि क्या विद्यापति चूँकि शैव थे, इसलिए वे राधा-कृष्ण की प्रेम-भक्ति का काव्य नहीं लिख सकते थे। शैव और वैष्णव धर्म का वैमनस्य, जैसा उग्र बाद में हुआ, विद्यापति के समय में नहीं था। ईस्वी सन् १००० के आस-पास उत्कीर्ण खजुराहो के शिलालेख में भगवान् शिव को एकेश्वर कहा गया है तथा विष्णु, बुद्ध जिन आदि को उन्हीं का अवतार कहा गया है।[३] वायुपुराण में ही शिव और विष्णु के तादात्म्य का विवरण मिलता है :

प्रकाशं चाप्रकाशं च जंगमं स्थावरं च यत्।
विश्वरूपमिदं सर्वं रुद्रनारायणात्मकम्॥
(२५।२०)

विष्णुपुराण में विष्णु और शिव को एक बताया गया है :

शंकरो भगवान शौरिर्भूति गौरी द्विजोत्तम
नमो नमो विशेषस्त्वं ब्रह्मात्वंहि पिनाकधृक्
(१।८।२१)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि 'जो लोग विद्यापति के बारे में कहा करते हैं कि वे शैव थे अतः वैष्णव भक्त नहीं हो सकते, वे उस काल की मनःस्थिति को नहीं जानते। शिव सिद्धिदाता थे, विष्णु भक्ति के आश्रय। गाहड़वाल नरेश अपने को माहेश्वर कहते थे, पर वे

---

१. महाकवि विद्यापति, पृ० १९४।
२. Songs of Vidyapati, by Dr. Subhadra Jha, Page 184-85.
३. डॉ० यदुवंशी का शैवमत, पृ० १४१।

लक्ष्मीनारायण की स्तुति भी किया करते थे।'[1] विद्यापति ने एक स्तुतिपद में विष्णु और शिव की समवेत स्तुति की है :

भल हर भल हरि भल तुअ कला
खन पीत वसन खनहिं बघछला
खन पंचानन खन भुजचारि
खन संकर खन देव मुरारि
खन गोकुल भए चराइअ गाय
खन भिखि मांगिय डमरू बजाय
खन गोविन्द भये लिअ महादान
भनहिं भसम भरि आँख ओ कान
एक सरीर लेल दुइ बास
खन बैकुंठ खनहिं कैलास
भनहिं विद्यापति विपरीत बान
ओ नारायण ओ सूलपानि

इस पद में न केवल विद्यापति ने शंकर विष्णु को एक बनाया; बल्कि विष्णु-लीलाओं में मुख्य गोकुल में गाय चराना और गोविन्द के रूप में दधि का महादान लेने वाला बताया है। हरि और शंकर के इसी समवेत रूप को बाद में तुलसीदास ने अपनाया और उसे विस्तृत भूमिका प्रदान की :

रुचिर हरिशंकरी नाम मंत्रावली द्वन्द्व दुख हानि आनन्द खानी
विष्णु शिव लोक सोपान सम सर्वदा वदति तुलसीदास बिसद बानी

शिव और विष्णु की वन्दना के साथ-साथ विद्यापति ने शक्ति या दुर्गा की भी स्तुति में पद लिखे हैं। इसलिए कोई शाक्त या मौलिक बात कहने का इच्छुक आलोचक कहना चाहे तो यह भी कह सकता है कि चूँकि विद्यापति शाक्त थे इसलिए उन्होंने राधा के रूप में आद्याशक्ति की लीलाओं का चित्रण किया है। वस्तुस्थिति को न समझने के कारण इस

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३९।

प्रकार के तर्कों के आधार पर किसी कवि के दृष्टिकोण तथा धार्मिक विश्वासों का विवेचन नहीं किया जा सकता। विद्यापति के समय में मिथिला में क्या सम्पूर्ण उत्तरभारत में शैव, शाक्त और वैष्णव तीनों प्रकार के मतों का काफी प्रचार हो गया था। कामरूप और हिमालय की तराई के हिस्सों में शाक्त-साधना का काफी प्रचार था। इसका प्रभाव विद्यापति पर कितना पड़ा, यह कहना कठिन है; किन्तु शक्ति का रूप सदा से भारतीय कवि को अपनी ओर आकृष्ट करता रहा है। शक्ति के भी विविध रूप हैं। राधा स्वयं परमेश्वर की आह्लादिनी शक्ति कही गई है। पुराणों में अनेक स्थलों पर प्रकृति को विष्णु-माया कहा गया है। शक्ति की व्यापकता और सार्वभौमता अक्षुण्य है। राधा-तत्त्व कई दृष्टियों से काश्मीरी शैवदर्शन में व्याख्यात शक्ति-तत्त्व से समानता रखता है। पुराणों में वर्णित वैष्णव शक्ति-तत्त्व और शैवागमों में वर्णित शक्ति-तत्त्व में रूप का अन्तर नहीं, नाम का अन्तर ही ज्यादा है। विद्यापति ने शक्ति के इसी सार्वभौम रूप की वन्दना की है :

विदिता देवी विदिता हो अविरल केस सोहन्ती
एकानेक सहस को धारिनि, जनि रंगा पुरनन्ती
कज्जल रूप तुअ काली कहिए, उज्ज्वल रूप तुव वानी
रवि मंडल परचंडा कहिए, गंगा कहिए पानी
ब्रह्माधर ब्रह्माणी कहिए, हर घर कहिए गोरी
नारायण घर कमला कहिए, के जान उतपति तोरी
विद्यापति कविवर एह गाओन, जाचक जन के गती
हासिनी देइ पति गरुण नारायण, देवसिंह नरपती

इस प्रकार विद्यापति की शक्ति-वन्दना में मध्यकालीन तान्त्रिक साधना का प्रभाव ढूंढ़ा जाये तो कोई आपत्ति नही, किन्तु साधारण तौर से हम इसे एक हिन्दू कवि के चित्त का दुर्गा के प्रति भक्ति-निवेदन ही कहें तो ज्यादा ठीक होगा। इन सभी देवताओं की वन्दना को दृष्टि में रखकर म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्री ने कहा था कि विद्यापति वस्तुतः पंचदेवोपासक थे।

कीर्तिलता के बंगीय संस्करण में शास्त्री जी ने उक्त मत प्रस्तुत किया; किन्तु विद्यापति को पंचदेवोपासक मानें या शुद्ध चित्त का एक हिन्दू, यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि उनकी रचनाओं को शृंगारिक मानें या वैष्णव भक्ति-पूर्ण। इस प्रश्न का उत्तर विद्यापति के काव्य सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा उनके व्यक्तिगत जीवन की स्थितियों, वातावरण आदि को समझे बिना नहीं दिया जा सकता। धार्मिक वातावरण की चर्चा की गई, विद्यापति के काल में उपर्युक्त सभी धर्म कमो-बेश मात्रा में प्रचलित थे। विद्यापति ने प्रत्येक देवी-देवता की वन्दना की। यहाँ तक कि उन्होंने राधा की वन्दना में भी पद लिखे हैं, जैसे :

देखि देखि राधा रूप अपार
अपरूप केहि विधि आन मिलाओलि
खिति तल लावनि-सार
अंगहि अंग अनंग मुरछायत
हेरए पड़ए अधीर
मन्मथ कोटि मथन करु जे जन
से हेरि महि मध गीर
कत कत लछमी चरन तल नेओछये
रंगिनि हेरि विमोरि
करु अभिलाख मनहि पद पंकज
अहो निसि कोर अगोरि

इस पद में राधा जगत्धात्री की पीठिका पर आसीन हैं। उनके रूप के सामने सम्पूर्ण जगत् का सौंदर्य फीका है। कामदेव को भी अपने रूप से विजित करने वाले कृष्ण इस सौंदर्य को देखकर संज्ञाहीन हो जाते हैं। सहस्रों लक्ष्मी राधा के चरणों में न्योछावर हैं। राधा का यह देवो-सूक्त वाला रूप है जिसके सामने देव-देवता सब तुच्छ और निर्बल हैं।

कहने वाले कह सकते हैं कि 'बिहारी सतसई' के लेखक ने भी ग्रन्था-रम्भ में राधा की वन्दना की है; किन्तु उनका काव्य कभी भक्ति काव्य

नहीं माना गया, फिर विद्यापति का ही क्यों माना जाय ? इसके उत्तर में एक चलता तर्क यह दिया जा सकता है कि बिहारी की रचना किसी भी परवर्ती वैष्णव भक्त द्वारा कीर्तन का विषय नहीं मानी गई जब कि विद्यापति की रचनाएँ एक व्यापक क्षेत्र में कीर्तन में गाई जाती थीं। महाप्रभु चैतन्यदेव विद्यापति की रचनाओं को गा करके मस्त हो जाया करते थे। विद्यापति के परवर्ती, ब्रजबुलि कवि गोविन्ददास ने लिखा है कि विद्यापति का काव्य कितना गौरवपूर्ण है, गोविन्द-गोरि (राधा-कृष्ण) के प्रेम पर लिखे हुए जिनके गीतों ने संसार का हृदय जीत लिया। गौड़ीय वैष्णवों का तो यहाँ तक कहना है कि विद्यापति का जन्म ही इसीलिए हुआ था कि वे चैतन्य महाप्रभु के अवतार के पहले इस पृथ्वी पर आकर राधा-कृष्ण की प्रेम-भक्ति के गान लिखें जिन्हें महाप्रभु कीर्तन में गायेंगे। कृष्णदास ने लिखा है कि चैतन्य महाप्रभु विद्यापति के गीतों को बड़े प्रेम से सुनते थे :

कर्णामृत विद्यापति श्री गीतगोविन्द
दुहें श्लोक गीते प्रभुर कराय आनन्द
(चैतन्य चरितावली, ३।५)

वस्तुत: विद्यापति शृंगारिक कवि थे या भक्त इसे समझने के लिए भक्ति-काल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि समझना अनिवार्य हो जाता है। हमारे मन, में शृंगार भक्ति के विषय में कई मिथ्या धारणायें बद्धमूल हो गई हैं। शृंगार भक्ति का विरोधी नहीं है। विद्यापति के काव्य में इस शृंगार का ऐसा रूप क्यों है ? इसे हम पूरी पृष्ठभूमि में रखकर देखने पर ही समझ सकते हैं। नखशिख वर्णन केवल शृंगारिक कवियों ने ही प्रस्तुत नहीं किये हैं। रूप वर्णन की वैष्णव शैली में किन-किन तत्त्वों का समावेश हुआ, यह भी जानना आवश्यक है। रूपासक्ति और रूपोपासना में क्या फर्क है। राधा क्या है—राधा के स्वरूप का विकास किन-किन तत्त्वों के सम्मिश्रण से हुआ ? राधा के किस रूप की विद्यापति स्तुति करते हैं, आदि प्रश्न इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के आकलन के बाद ही समाहित हो सकते हैं।

●

भक्ति-काव्य : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का पुनःपरीक्षण

ईस्वी सन् की ७वीं शताब्दी से अद्यतन काल तक अजस्र रूप से प्रवाहित हिन्दी काव्य-धारा में भक्ति का प्रवाह मन्दाकिनी की तरह अपनी शुभ्रता, निष्कलुष तरंगावलि और अनन्त जनता के मन को नैसर्गिक शान्ति प्रदान करने वाली दिव्य जलधारा की तरह पूजित है। रवि बाबू ने लिखा है कि 'मध्ययुग में हिन्दी के साधक कवियों ने जिस रस-ऐश्वर्य का विकास किया उसमें असामान्य विशिष्टता है। वह विशेषता यह है कि एक साथ कवि की रचना में उच्चकोटि की साधना और अप्रतिम कवित्व का एकत्रमिश्रित संयोग दिखाई पड़ता है जो अन्यत्र दुर्लभ है।'[1]

भक्ति काल के इस अप्रतिम और ऐश्वर्यमण्डित काव्य को विदेशी प्रभाव की छाया में पला हुआ या ईसाइयत का अनुकरण बताने वाले लोगों पर भारतीय मन का क्षोभ स्वाभाविक था। डॉ० ग्रियर्सन, वेबर, कैनेडी यहाँ तक कि भारतीय पण्डित डॉ० भाण्डारकर ने भी यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ईसाई-संसर्ग का परिणाम है। डॉ० ग्रियर्सन ने नेस्टोरियन ईसाइयों के धर्ममत का भक्ति-आन्दोलन पर प्रभाव दिखाते हुए हिन्दुओं को उनका ऋणी साबित किया।[2] वेबर ने कृष्ण, जन्माष्टमी के उत्सव की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए

---

१. पुरोहित हरिनारायण शर्मा द्वारा सम्पादित सुन्दर ग्रन्थावली का प्राक्कथन, संवत् १९९३।

२. जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसाइटी, सन् १९०७ में प्रकाशित, 'हिन्दुओं पर नेस्टोरियन ईसाइयों का ऋण' शीर्षक निबन्ध।

कृष्ण-जन्म की कथा को ईसामसीह की जन्म-कथा से जोड़ दिया।[१] केनेडी ने 'कृष्ण, ईसाइयत और गूजर' शीर्षक निबन्ध में यह बताने का प्रयत्न किया कि गूजरों से कृष्ण का सम्बन्ध है और चूँकि गूजर सीथियन जाति के हैं इसलिए उनमें प्रचलित बालकृष्ण की पूजा की प्रेरणा उनके मूल-प्रदेश के किसी धर्ममत से मिली होगी।[२] डॉ० भाण्डारकर ने इन्हीं सब मतों का जैसे एकत्र संयोग प्रस्तुत करते हुए लिखा कि "आभीर ही शायद बाल-देवता की जन्म-कथा तथा उसकी पूजा अपने साथ ले आये। उन्होंने भी क्राइष्ट और कृष्ण शब्द के कृष्टधृष्ट साम्य को प्रमाणित करने का घोर प्रयत्न किया और बताया कि नन्द के मन में यह अज्ञान कि वह कृष्ण के पिता हैं तथा कंस द्वारा निरपराध व्यक्तियों की हत्या क्राइष्ट-जन्म की तत्सम्बन्धी घटनाओं से पूर्णतः साम्य रखते हैं। यह सब कुछ भांडारकर के मत से आभीर अपने साथ भारत में ले आये।[३]

इन मतों को पढ़ने पर किसी भी विवेकवान् पुरुष को लगेगा कि इनकी स्थापना के पीछे निश्चित पूर्वग्रह और न्यस्त-अभिप्राय थे जिनके कारण सत्य को आच्छन्न बनाने में इन विद्वानों ने संकोच नहीं किया। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने बड़े खेद के साथ लिखा है कि 'भारतवर्ष का यह परम अपराध रहा है कि वह परमत सहिष्णु और आश्रित-वत्सल रहा है। दुर्दिन में दुरवस्था की मार से जब एक दल के ईसाई भारत के दक्षिणी हिस्से में शरणापन्न हुए उस समय शरणागत-वत्सल भारत में उन्हें बिना बिचारे आश्रय दिया। उस दिन उसने सोचा भी नहीं था कि इन दुर्गत आश्रितों के सहधर्मी इस मामूली से सूत्र से भारतवर्ष के सारे गौरवों का दावा पेश करने लगेंगे।'[४] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उपर्युक्त विद्वानों

---

१. इण्डियन ऐण्टिक्वैरी, भाग ३-४ में 'कृष्ण-जन्माष्टमी' पर लेख।
२. जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसाइटी सन् १९०७ में प्रकाशित 'कृष्ण क्रिश्चियानिटी और गूजर' शीर्षक निबन्ध।
३. वैष्णविज़म, शैविज़म एण्ड अदर माइनर सेक्ट्स, पृ० ३८-२९।
४. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के सूर साहित्य की भूमिका, पृ० ७।

को धारणाओं का उचित निरास करते हुए राधा-कृष्ण के विकास का बड़ा सन्तुलित सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्वीकार किया है कि 'कृष्ण का वर्तमान रूप नाना वैदिक-अवैदिक, आर्य-अनार्य धाराओं के मिश्रण से बना है। इस प्रकार शताब्दियों की उलट-फेर के बाद प्रेम-ज्ञान वात्सल्य-दास्य आदि विविध भावों के मधुर आलम्बनपूर्ण ब्रह्म श्री कृष्ण रचित हुए। माधुर्य के अतिरिक्त उद्रेक से प्रेम और भक्ति का प्याला लबालब भर गया। इसी समय ब्रजभाषा का साहित्य बनना शुरू हुआ।'[1]

भक्ति आन्दोलन के विकास के पीछे ईसाइयत के प्रभाव की बात की गई है। उसी प्रकार कुछेक विद्वानों की धारणा है कि यह आन्दोलन मुसलमानों के आक्रमण के कारण इतने आकस्मिक रूप में उदित हुआ। इस धारणा का भी प्रचार करने में विदेशी विद्वानों का हाथ रहा है। प्रो० हैवेल ने अपनी पुस्तक 'दि हिस्ट्री ऑव आर्यन रूल' में लिखा कि "मुसलमानी सत्ता के प्रतिष्ठित होते ही हिन्दू राज-काज से अलग कर दिये गए। इसलिए दुनिया की झंझटों से छुट्टी मिलते ही उनमें धर्म की ओर, जो उनके लिए एकमात्र आश्रय-स्थल रह गया था स्वाभाविक आकर्षण पैदा हुआ।"[2] हिन्दी के भी कुछ इतिहासकारों ने इसी मत को स्वीकार किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में भक्ति-आन्दोलन की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए लिखा है कि 'देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। इतने भारी राजनीतिक उलट-फेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।'[3] बहुत से लोग सोचते हैं, कि शुक्ल जी ने भक्ति के विकास का मूल कारण

---

१. सूर साहित्य, संशोधित १९५६, बम्बई, पृ० ११ तथा १६।
२. हिन्दी साहित्य की भूमिका में डॉ० द्विवेदी द्वारा उद्धृत, पृ० १५।
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठा संस्करण, पृ० ६०।

मुसलमानी आक्रमण को बताया, किन्तु ऐसी बात नहीं है। शुक्ल जी ने भक्ति आन्दोलन के शास्त्रीय और सैद्धान्तिक पक्षों का भी विश्लेषण किया है, उनके निष्कर्ष कितने सही हैं, यह अलग बात है, इस पर आगे विचार करेंगे। शुक्ल जी ने सिद्धों और योगियों की साहित्य-साधना को 'गुह्य रहस्य और सिद्धि' के नाम से अभिहित किया है और उनके मत से भक्ति के विकास में इनकी वाणियों से कोई प्रभाव नहीं पड़ा "प्रभाव यदि पड़ सकता था तो यही कि जनता सच्चे शुभ कर्मों के मार्ग से तथा भगवद्-भक्ति की स्वाभाविक हृदय-पद्धति से हटकर अनेक प्रकार के मंत्र और उपचारों में जा उलझी।"[1] अतः स्पष्ट है कि शुक्ल जी के मत से ऐसी रचनाओं का भक्ति के विकास में कुछ महत्त्वपूर्ण योग-दान नहीं था। भक्ति का सैद्धान्तिक विकास 'ब्रह्म-सूत्रों पर, उपनिषदों पर, गीता पर, भाष्यों की जो परम्परा विद्वन्मण्डली के भीतर चल रही थी, उसमें हुआ।'[2] भक्ति के विकास में सहायक तीसरा तत्त्व शुक्ल जी के मत से भक्ति का वह सोता है जो दक्षिण की ओर से उत्तर भारत की ओर पहले से हो आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय-क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला।'[3] भक्ति जैसे लोक चित्तोद्भूत और लोकप्रिय मत की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि भाष्य और टीका ग्रन्थों में ढूँढ़ना बहुत उचित नहीं कहा जा सकता; क्योंकि सभी टीका ग्रन्थ भारतीय मनीषा की मौलिक उद्भावना और जीवन्त बुद्धि का परिचय नहीं देते। शुक्ल जी के प्रथम और तृतीय कारण भी परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। शुक्ल जी ने यह स्वीकार किया है कि दक्षिण में भक्ति विकसित हो रही थी और उसका प्रभाव उत्तर में पड़ने लगा था। मुसलमानी आक्रमण के कारण भक्ति का उदय नहीं हुआ, भक्ति का स्वाभाविक विकास इस आक्रमण ने कुछ तीव्र अवश्य कर दिया। क्योंकि

---

१. वही, पृ० ६१।

२. वही, पृ० ६२।

३. वही, पृ० ६३।

यदि मुसलमानी आक्रमण के कारण जनता में दयनीयता का उद्भाव हुआ जिससे भक्ति के विकास में सहायता मिली तो मुसलमानों के आक्रमण से प्रायः सुरक्षित दक्षिण में यह 'भक्ति का सोता' कहाँ से पैदा हो गया जो उत्तर में प्रवाहित होने लगा था।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भक्ति के विकास की दिशाओं का संकेत देने वाल तत्त्वों का सन्धान करते हुए बताया है[1] कि बौद्धमत का महायान सम्प्रदाय अन्तिम दिनों में लोकमत के रूप में परिणत होकर हिन्दू धर्म में पूर्णतः घुलमिल गया। पूजा-पद्धति का विकास इसी महायान मत के प्रभाव से होने लगा था। हिन्दी भक्ति साहित्य में जिस प्रकार के अवतार-वाद का वर्णन है, उसका संकेत महायान मत में ही मिल जाता है। सिद्धों और नाथ योगियों की कविताएँ हिन्दी सन्त साहित्य से पूर्णतया संयुक्त हैं, इस प्रकार सन्त-मत का उद्भव मुसलमानों के आक्रमण के कारण नहीं, बल्कि अपनी भारतीय चिन्ता के स्वाभाविक विकास का परिणाम है। इस प्रकार द्विवेदी जी की स्थापना है कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा हो होता जैसा आज है।[2]

वस्तुत. इन सभी प्रकार के वाद-विवादों का मूल कारण है भक्ति-सम्बन्धी प्राचीन साहित्य का अपेक्षाकृत अभाव। हम भक्ति काव्य आन्दोलन को बहुत प्राचीन मानते हुए भी जयदेव के गीतगोविन्द से प्राचीन कोई साहित्य न पा सकने के कारण अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए ऐतिहासिक ऊहापोह में ही लगे रह जाते हैं। ब्रजभाषा भक्ति साहित्य का आरम्भ सूरदास के साथ मानते हैं, रामभक्ति काव्य तुलसी के साथ शुरू होता है। प्राचीन संत काव्य ही ले-देकर कुछ पुराना प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में मुसलमानी आक्रमण के साथ भक्ति आन्दोलन का

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका का 'भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास' शीर्षक अध्याय।

२. वही, पृ० २।

आरम्भ मानने वाले लोग इसे 'मुसलमानी जोश' का साहित्य कह कर गोटी बिठा देते हैं इस दिशा में एक भ्रान्त धारणा यह भी बद्धमूल हो गई है, जो भक्ति काव्य के सर्वांगीण विश्लेषण में बाधा पहुँचाती है कि भक्ति के सगुण और निर्गुण रूपान्तर परस्पर विरोधी चीजें हैं। इस प्रकार के विचार वाले आलोचक सगुण काव्य को तो भारतीय परम्परा से सम्बद्ध मानते हैं और निर्गुण काव्य को विदेशी कह देते हैं। परिणाम यह होता है कि निर्गुण काव्य को धाराच्युत कर देने पर सगुण भक्ति काव्य को १६वीं शती में उत्पन्न मानना पड़ता है और सूर तथा अन्य वैष्णव कवियों के लिए १२वीं शती के जयदेव और १४वीं के विद्यापति एकमात्र प्रेरणा-केन्द्र बच जाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मध्यदेश में भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात खासतौर से ब्रजभाषा-प्रदेश में वल्लभाचार्य के आगमन के बाद माना है।[१] डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है कि '१६वीं शताब्दी के पहले भी कृष्ण-काव्य लिखा गया था लेकिन वह सब का सब या तो संस्कृत में है जैसे जयदेवकृत गीतगोविन्द या अन्य प्रादेशिक भाषाओं में जैसे मैथिलकोकिलकृत पदावली। ब्रजभाषा में लिखी हुई १६वीं शताब्दी से पहले की रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं।'[२] जाहिर है कि यदि गीतगोविन्द और विद्यापति पदावली के अतिरिक्त भक्ति का परिचय देनेवाली इतर सामग्री मिलती तो इस प्रकार का व्यवधान उपस्थित न होता।

भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि की खोज के लिए हमें संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाओं का पर्यवेक्षण करना होगा। भागवत कृष्ण काव्य का उपजीव्य ग्रन्थ माना जाता है। और भी कई पुराणों में कृष्ण के जीवन तथा उनके अलौकिक कार्यों का वर्णन किया गया है। ईस्वी सन् के पूर्व ही कृष्ण वासुदेव भगवान् या परम दैवत् के रूप में पूजित होने लगे थे। संस्कृत साहित्य में कई स्थानों पर कृष्ण की अवतार के रूप

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १५२।
नाम महात्म्य, श्री ब्रजांक, अगस्त, सन् १९४० ब्रजभाषा नामक लेख।

की अभ्यर्थना की गई है। भागवत के अलावा हरिवंशपुराण, नारद-पंचरात्र, आदि धार्मिक ग्रन्थों में कृष्ण-लीला का वर्णन आता है। भास कवि ने संस्कृत नाटकों में, जो कुछ विद्वानों की राय में ईसा पूर्व लिखे गए थे, कई ऐसे हैं जिनमें कृष्ण के जीवन-चरित्र को नाट्य-वस्तु के रूप में ग्रहण किया गया है। परवर्ती संस्कृत काव्यों, शिशुपाल वध आदि में कृष्ण के जीवन और कार्यों का वर्णन किया गया है। जयदेव का गीत-गोविन्द तो कृष्ण भक्ति का अनुपम काव्य ग्रन्थ है ही।

ब्रजभाषा की जननी शौरशेनी अपभ्रंश भाषा में भी कृष्णसम्बन्धी काव्य लिखे गए। आश्चर्य है कि अब तक इन रचनाओं की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट नहीं हो सका है। अपभ्रंश में कृष्णसम्बन्धी जो कुछ भी साहित्य अवशिष्ट है और जिसका सन्धान हो सका है, वह ब्रज-भाषा के सगुण कृष्ण भक्ति आन्दोलन को समझने में बहुत सहायक हो सकता है। इनमें सर्वाधिक महत्त्व की रचना पुष्पदन्त कवि का महापुराण है जिसमें कृष्ण-जीवन का विशद् चित्रण किया गया है। इसमें कृष्ण-भक्ति के निश्चित रूप का पता नहीं चलता। कृष्ण-जीवन से सम्बन्धित घटनायें निःसन्देह भागवत या हरिवंशपुराण के आधार पर ली गई हैं। गोपियों के साथ कृष्ण का विहार, (उत्तरपुराण, पृ० ६४-६५) पूतना लीला (उ०पुराण ६) ओखल-बन्धन, गोवर्धन-धारण (उ०पु० १६) कालिय-दमन आदि की घटनायें भागवत की कथा से पूर्ण साम्य रखती हैं। पुष्पदन्त ने कृष्ण के लिए जिन सम्बोधनों का प्रयोग किया है उनमें गोपाल, मुरारि, मधुसूदन, हरि, प्रभु आदि शब्द आते हैं। रास के वर्णन में पुष्पदन्त ने गोपियों की उत्सुकता, प्रेम-विह्वलता और असामान्य व्यवहारों का वैसा ही जिक्र किया है जैसा भागवत में है अथवा परवर्ती विद्यापति या सूरदास आदि में। कोई-कोई आधे विलोए दही को वैसे ही छोड़ कर भागीं, किसी की मथानी टूट गई। कोई कहती है कि तुमने मथानी तोड़ दी, इसका दाम चुकाओ एक आलिंगन देकर। कहीं गोपी की पाण्डुर रंग की चोली कृष्ण की छाया

से काली ही जाती है, इस प्रकार धूलिधूसर कृष्ण उन गोपियों को क्रीडारस से वशीभूत कर लेते हैं :

धूली धूसरेण वर मुक्क सरेण तिणा मुरारिणा
लीला रस वसेण गोवालय गोवी हियय हारिणा
मंदीरउ तोडिवि आवट्टिउं, अद्धविरोलिउं दहिउं पलोट्टिउं
कवि गोवी गोविन्दहु लग्गी, एण महारी मंथानि भग्गी
एयहि मोल्लु देहु आलिंगणु, णं तो मा मेल्लहु मे प्रंगणु
काहि वि गोविहि पंडरु चोलउं, हरि तणु तेंइ जायउं कालउं

(उत्तरपुराण, पृ० ६४)

भागवत से अत्यन्त प्रभावित होते हुए भी पुष्पदंत की कथा में कृष्ण भक्ति का स्फुट स्वरूप नहीं दिखाई पड़ता, फिर भी रास क्रीड़ा आदि के वर्णन यह तो प्रमाणित करते ही हैं कि कृष्ण के रास का महत्त्व १०वीं शती के एक जैन कवि के निकट भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। यह याद रखना चाहिए कि पुष्पदंत का यह वर्णन गीतगोविन्द से दो सौ वर्ष पहले का है। बाद में भी कई जैन कवियों ने कृष्ण सम्बन्धी काव्य लिखे; परन्तु कृष्ण को भगवान् के रूप में चित्रित नहीं किया गया। वे एक महाप्राणवान् पुरुष के रूप में ही चित्रित हुए। प्रद्युम्न चरित्र काव्यों में तो उनकी कहीं-कहीं दुर्गति भी दिखाई गई है।

१२वीं शताब्दी में हेमचन्द्र के द्वारा संकलित अपभ्रंश के दोहों में दो ऐसे दोहे हैं जिनमें कृष्णसंबंधी चर्चा है। एक में तो स्पष्ट रूप से कृष्ण और राधा के प्रेम की चर्चा की गई है। मेरा ख्याल है कि ये दोहे एतत्संबंधी किसी पूर्ण काव्य ग्रंथ के अंश हैं। दोहे इस प्रकार हैं :

हरि नच्चाविउ पंगणइ विम्हइ पाडिउ लोउ
एम्वहि राह पओहरहं जं भावइ तं होउ

हरि को प्रांगण में नचाने वाले तथा लोगों को विस्मय में डाल देने वाले राधा के पयोधरों को जो भावे सो हो। संभवतः यह किसी हास्य प्रगल्भा

का संकेत तो मिलता है, किन्तु इस प्रेम को भक्ति-संयुक्त मानने का कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। दूसरा दोहा अवश्य ही स्तुतिमूलक है :

मइं भणियउं बलिराय तुहुं केहउ मग्गण एहु
जेहु तेहु न वि होइ वढ सइ नारायण एहु

इस पद्य में नारायण और बलि की कथा का संकेत मिलता है, इसमें भी हम बहुत अंशों तक भक्ति के मूल भावों का निदर्शन नहीं पाते। फिर भी ये दोहे आरम्भिक ब्रजभाषा के अज्ञात कृष्णकाव्यों की सूचना तो देते ही हैं। इस तरह का न जाने कितना विपुल साहित्य रहा होगा जो दुर्भाग्यवश आज प्राप्त नहीं होता। प्रबन्धचिन्तामणि में भी एक दोहा ऐसा आता है जिसमें राजा बलि की कथा को लक्ष्य करके पक अन्योक्ति कही गई है :

अम्हणिओ संदेसडो तारय कन्ह कहिज्ज
जग दालिद्दिहिं डुब्बिउ वलिवधंणह मुहिज्ज

मेरा संदेशा उस तारक कृष्ण से कहना कि संसार दारिद्रय में डूब रहा है अब तो बलि को बन्धन-मुक्त कर दीजिए। इस दोहे का 'तारअ' शब्द महत्त्वपूर्ण है। उद्धारक या तारक विशेषण से कृष्ण के प्रति परमात्म बुद्धि का पता चलता है।

कृष्ण-भक्तिकाव्य का वास्तविक रूप पिंगल ब्रजभाषा में १३वीं-१४वीं शती के आस-पास निर्मित होने लगा था। प्राकृतपैंगलम् का रचनाकाल १४वीं शती के आस-पास उससे कुछ पहले माना जाता है। यह एक संकलन-ग्रंथ है जिसमें १४वीं शती तक के पिंगल ब्रजभाषा के काव्यों में छन्दों के उदाहरण छाँटे गए थे। इसमें कृष्णभक्ति सम्बन्धी कई पद्य संगृहीत हैं। कृष्ण के अलावा शंकर, विष्णु आदि से स्तुति के भी कई पद दिखाई पड़ते हैं। एक पद में दशावतार का वर्णन भी मिलता है। इन पद्यों का विश्लेषण करने पर भक्ति के कई तत्त्वों का संधान मिलता है। प्रेम-भक्ति का बड़ा ही मधुर और मार्मिक चित्रण हुआ है। स्तुतिपरक पद्यों में भी आत्मनिवेदन तथा

प्रणति का रूप स्पष्ट दिखाई पड़ता है। शिव सम्बन्धी स्तुति में शंकर के रूप का चित्रण देखिए :

जसु कर फणवइ वलय तरुणि वर तणुमंह विलसइ
नयन अनल गल गरल विमल ससहर सिर णिवसइ
सुरसरि सिर मंह रहइ सयल जण दुरित दमण कर
हरि ससिहर हरउ दुरित वितरहु अतुल अभय वर

(१६०।१११)

रामसम्बन्धी स्तुति का एक पद :

वप्पक उक्कि सिरे जिणि लिज्जउ तेज्जिय रज्ज वणंत चले विणु
सोहर सुन्दरि संगहि लग्गिय मारु विराध कबंध तहाँ हणु
मारुइ मिल्लिय वालि विहंडिय रज्ज सुगीवह दिज्ज अकंटक
बंध समुद्द विणासिय रावण सो तुव राहव दिज्जउ निब्भय

स्तुतिपरक पद्यों में राम, शिव या कृष्ण की वन्दना परमात्मा के रूप में की गई है और वे दीनों पर कृपा करनेवाले तथा अभय देने वाले इष्टदेव के रूप में चित्रित किए गए हैं, किन्तु सर्वाधिक महत्व के कृष्णसम्बन्धी वे पद्य हैं जिनमें कृष्ण को परमात्मा के रूप में मानते हुए भी गोपी या राधा के साथ उनके प्रेम का वर्णन किया गया है। ऐसे पद्यों में कवि ने बड़े कौशल से लौकिक प्रेम का पूरा रूप प्रस्तुत करते हुए भी उसमें चिन्मय सत्ता का आरोप किया है। सूरदास की कविता में गोपियों के सामान्य लौकिक प्रेम के धरातल से चिदोन्मुख प्रेम का जैसा उन्नत रूप उपस्थित किया गया है, वैसा ही चित्रण इन पदों में मिलता है। इनमें से कई पद्य जयदेव के गीतगोविन्द के श्लोकों से भाव-साम्य रखते हैं।[1]

---

१. जगदेव के गीतगोविन्द के तीन-चार श्लोक प्राकृतपैंगलम् के कुछ पदों से अद्भुत साम्य रखते हैं। 'वेदानुद्धरते'–वाला श्लोक जिण वेअ धरिज्जे, महियल लिज्जे' वाले पद से अक्षरशः मिलता है। उसी प्रकार 'जं फुल्लक फुलवण' वाला (प्राकृतपैंगलम्) पद भी एक श्लोक से पूर्णतः साम्य रखता है। इस विषय में विस्तार के साथ 'सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' शीर्षक प्रबन्ध में विचार किया गया है।

नदी पार करते समय कृष्ण अपनी चंचलता के कारण नाव को हिला-डुलाकर गोपी को भयभीत करना चाहते हैं। कृष्ण के ऐसे कार्यों को पीछे छिपे मन्तव्य को पहचान कर भय का बहाना बताती हुई प्रेमविह्वला गोपी कहती है :

अरे रे वाहहि काण्ह णाव छोडि डगमग कुगति ण देहि
तइ इत्थि णइहि संतार देइ जो चाहइ सो लेहि
(१२।९)

यह स्वतंत्र' मुक्तक पद भी हो सकता है; किन्तु संदर्भ को देखते हुए लगता है की नौका-लीला-सम्बन्धी किसी बड़ी कविता का एक स्फुट पद्य है। एक दूसरे पद्य में कृष्ण के जीवन की विविध लीलाओं का संकेत करते हुए उनकी स्तुति की गई है। यह पद्य वैसे मूलतः स्तुतिपरक नहीं है; किन्तु एक पंक्ति में कृष्ण और राधा के प्रेम-सम्बन्धों पर भी प्रकाश पड़ता है। कृष्ण को नारायण के रूप में स्मरण करते हुए भी कवि ने उनके राधा-प्रेम का जो चित्र प्रस्तुत किया है उसमें प्रेम-भक्ति के भी तत्त्व दिखाई पड़ते हैं। मधुर भाव की भक्ति का यह संकेत ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। राधा के क्रमिक विकास का अत्यन्त वैज्ञानिक और व्यापक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले डॉ० शशिभूषण दास गुप्त ने लिखा है कि 'संस्कृति और प्राकृत वैष्णव कविता के बाद पहले पहल देश भाषा में ही राधा-कृष्ण की प्रेम-सम्बन्धी वैष्णव पदावली १५वीं सदी के मैथिल कवि विद्यापति और बंगला के कवि चण्डीदास की रचनाओं में पाते हैं।'[1] प्राकृत काव्य से डॉ० दास गुप्त का मतलब गाथासप्तसती आदि में पाये जाने वाले उन शृंगारिक प्रसंगों से है जिसका सम्बन्ध वे राधाकृष्ण प्रेम से अनुमानित करते हैं। उन्होंने इसी प्रसंग में प्राकृतपैंगलम् की एक गाथा उद्धृत की है जिसके बारे में उन्होंने लिखा है कि 'परवर्ती काल में (गाथासप्तसती से) संगृहीत प्राकृतपिंगल नामक छंद के ग्रन्थ में जो प्राकृत गाथायें उद्धृत मिलती हैं

---

१. राधा का क्रमविकास, हिन्दी संस्करण, सन् १९५६, काशी, पृ० २७६-७७।
२. देखिये, वही पुस्तक, पृ० १४९।

उसके कितने ही श्लोकों और परवर्ती काल की वैष्णव कविता के वर्णन और स्वर में समानता लक्षणीय है जैसे :

फुल्ला णीवा भम भमरा दिट्ठा मेहा जले सामला
णच्चे निज्जु पिय सहिया, आवे कंता कहु कहिया।[१]
(वर्णवृत्त, ८१)

जाहिर है कि डॉ० दासगुप्त ने इस ग्रन्थ को अत्यन्त शीघ्रता से देखा अन्यथा उन्हें परवर्ती वैष्णव पदावली से प्राकृतपैंगलम् के कुछ छन्दों की शैली का साम्य दिखाने के लिए उपर्युक्त प्रकृत-चित्रण सम्बन्धी सामान्य वर्णन से संतोष न करना पड़ता। प्राकृतपैंगलम् में कृष्ण राधा के प्रेम-सम्बन्धी कई अत्यन्त उच्चकोटि की कवितायें संकलित हैं। एक छन्द ऊपर दे चुके हैं, दूसरा इस प्रकार है :

जिणि कंस विणासिअ किंत्ति पयासिअ
मुट्ठि अरिट्ठ विणास करें गिरि हत्थ धरे
जमलज्जुण भंजिय पय भर गंजिय
कालिय कुल संहार करे जस भुवण भरे
चाणूर विहंडिअ, णिय कुल मंडिअ
राहा मुह महु पान करे जिमि भमर वरे
सो तुम्ह णरायण विप्प परायण
चित्तह चिंतिय देउ वरा, भयमीय हरा
(३२४।२०७)

स्पष्ट है कि इस पद में नारायण के रूप में कृष्ण को परम दैवत या परमात्मा बुद्धि ने स्मरण किया है। ऐसे परमात्मा का राधा के मुख-मधु का भ्रमर की तरह पान करने का वर्णन इस बात का संकेत है कि १४वीं शताब्दी के पहले यानी विद्यापति और चण्डीदास के पूर्व देशी भाषाओं में मधुर भाव की भक्ति का कोई न कोई रूप अवश्य ही प्रचलित था।

---

१. वही, पृ० १५७।

इस ग्रन्थ में पाये जाने वाले अन्य कृष्णस्तुतिपरक पद्यों को उद्धृत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है :

१. परिणअ ससिहर वअणं बिमल दल नयणं
विहिअ असुर कुल दलणं पणयह सिरि महु महणं
(४२११०९)

२. भुवण अणंदो तिहुअण कंदो
भवर सवण्णो स जअइ कण्हो
(३६५।१०९)

प्राकृतपैंगलम् मे एक पद्य ऐसा भी प्रतीत होता है जिसमें शंकर और कृष्ण की साथ-साथ स्तुति की गई है। हालांकि शिव और कृष्ण की युग्म-भाव की स्थिति का या सम-भाव की स्थिति का यह चित्रण नहीं है जैसा विद्यापति के एक पद में मिलता है, जिसमें शिव और कृष्ण को एक ही ईश के दो रूप कहा गया है, फिर भी एक ही श्लोक में दोनों देवताओं की उपासना का महत्व है

जअइ जअइ हर वलइअ विसहर
तिलइअ सुन्दर चंद मुनि आणंद जन कंद
वसह गमन कर तिसुल डमरू धर
[illegible]हिं डाहु अंगण सिर गंग गौरि अधंग
जयइ जयइ हरि भुअ जुअ धरु गिरि
दहमुह कंस विणासा, पिय वासा सुन्दर हासा
वलि छलि महि हरु असुर विलय करु
मुणि जण मानस सुह भाषा, उत्तम वंसा
(५६८।२१५)

९वीं-१०वीं शताब्दी में शैव और वैष्णव दोनों ही मतों में बहुत-से तत्त्व एक दूसरे में घुल-मिल गए थे। यह सत्य है कि भारतीय इतिहास का उस काल में तथा उसके कुछ बाद तक शैवों और वैष्णवों में बहुत भयंकर कलह हुआ। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'समूचा उत्तर-भारत प्रधान रूप से स्मार्त था, शिव के प्रति उसकी अखंड भक्ति बनी हुई

थी, किन्तु उसमें अपूर्व सहनशीलता का विकास हुआ था और विष्णु को भी वह उतना ही महत्त्वपूर्ण देवता मानता था। शिव सिद्धिदाता थे, विष्णु भक्ति के आश्रय।[1] विद्वानों की धारणा है कि शैवों और वैष्णवों का कलह गोस्वामी तुलसीदास के काल तक किसी न किसी रूप में चलता रहा, इसी-लिए उन्होंने शैव और वैष्णव मतों के समन्वय की बहुत कोशिश की। सेनवंशी विजयसेन ने प्रद्युम्नेश्वर का मन्दिर बनवाया था जिसके एक लेख में शंकर और विष्णु की मिश्र मूर्ति का बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है :

लक्ष्मीवल्लभ शैलजादयितयोरद्वैतलीलागृहं ।
प्रद्युम्नेश्वरशब्दलाञ्छनमधिष्ठानं नमस्कुर्महे ॥

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि शैव और वैष्णव मतों में समन्वय का प्रयत्न सेनवंशीय राजाओं के काल में ही आरम्भ हो गया था। प्राकृत-पैंगलम् के पद्य में यद्यपि इस श्लोक में वर्णित शिव और विष्णु की मिश्र-मूर्ति का वर्णन नहीं किया है और न तो विद्यापति की तरह :

धन हरि धन हर धन तव कला
खन पीत वसन खनहिं बघछला

वाली मूलतः एक किन्तु प्रतिक्षण दोनों ही रूपों में दिखाई पड़ने वाली अलौकिक मूर्ति का वर्णन है; किन्तु एक ही पद में 'जयति शंकर' और 'जयति हरि' कहने वाले लेखक के मन मे दोनों के प्रति समान आदर की भावना अवश्य थी ऐसा तो मानना ही पड़ेगा। जो लोग विद्यापति के शैव या वैष्णव होने पर विवाद किया करते हैं, उन्हें इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को दृष्टि में रखना चाहिए।

कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी काव्य का अगला विकास संत कवियों की रच-नाओं में हुआ। संत कवि प्रायः निर्गुण मत के माने जाते हैं इसीलिए उनकी सगुण भावना को कविताओं को भी निर्गुणिया वस्त्र पहनाया जाना हमने आवश्यक मान लिया है। परिणाम यह होता है कि सहज मानवीय अभि-व्यक्तिपूर्ण कविताओं के भीतर भी रहस्य और गुह्य की प्रवृत्ति का अनावश्यक

---

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ३९।

अन्वेषण आरम्भ हो जाता है। निर्गुण और सगुण दोनों बिलकुल भिन्न धारायें मान ली जाती है। वस्तुत: वे दोनों मूलत: एक ही प्रकार की साधनायें हैं। जैसा आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है कि जहाँ तक 'ब्रह्म हमारे मन और इन्द्रियों के अनुभव में आ सकता है वहाँ तक हम उसे सगुण और व्यक्त कहते हैं, पर यहीं तक इसकी इयत्ता नहीं है। उसके आगे भी उसकी अनन्त सत्ता है इसके लिए हम कोइ शब्द न पाकर निर्गुण, अव्यक्त आदि निषेधवाचक शब्दों का आश्रय लेते हैं।'[1] ब्रह्म की पूर्णता की अनुभूति सगुण मत वालों का भी ध्येय है, किन्तु व्यक्ति इस अनुभूति के लिए जिस साधन का प्रयोग करता है, वह सीमित है। ब्रह्म का दर्शन इसी सीमित क्षेत्र में होने पर सगुण की संज्ञा पाता है। सूरदासादि अष्टछाप के कवियों ने निर्गुण निराकार ब्रह्म में विश्वास करने वालों की बड़ी कड़ी आलोचना की है। कुछ लोग इस प्रकार के प्रमाणों के आधार पर दोनों मतों को एक दूसरे का द्रोही सिद्ध करना चाहते है; किन्तु यह याद रखना चाहिए कि सूर आदि भक्त कवि ब्रह्म को निराकार स्थिति को अस्वीकार नहीं करते थे, वे निराकार ब्रह्म की प्राप्ति के ज्ञानमार्गी साधन को ठीक नहीं मानते थे, बस। श्रीमद्भागवत के एक श्लोक में बताया गया है कि आनन्द-स्वरूप ब्रह्म के तीन रूप होते हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। ब्रह्म चिन्मय सत्ता है। जो भक्त ब्रह्म के इस चिन्मय स्वरूप के साक्षात्कार का प्रयत्न करते हैं वे ब्रह्म के एक अंश को जानना चाहते हैं या जान पाते हैं, इस मत के अनुसार केवल ज्ञान स्वरूप ब्रह्म ज्ञाता और ज्ञेय के विभाग से रहित होता है। परमात्मा उसे कहते हैं जो सम्पूर्ण शक्ति का अधिष्ठाता है। इस रूप के उपासकों में शक्ति और शक्तिमान् का भेद ज्ञात रहता है। किन्तु तोसरा रूप सर्वशक्तिविशिष्ट भगवान् का है, इसकी सम्पूर्ण शक्तियों का ज्ञान केवल सगुण भाग से भजन करने वाले भक्त को ही प्राप्त हो सकता है :

---

१. भक्ति का विकास, सूरदास, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा संपादित, बनारस।

वदन्ति तत्तत्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते

इस प्रकार भगवान् के प्रेम की प्राप्ति हिन्दी के दोनों सम्प्रदायों, निर्गुण और सगुण मत वाले भक्तों का उद्देश्य रही। भक्त के जीवन की परम साधना है भगवान् की लीला। भक्तों में अपनी उपासना-पद्धति के अनुसार इस लीला के रूप में भेद हो सकता है; पर सब का लक्ष्य यह लीला ही है। जो निर्गुण भाव से भजन करता है वह भी भगवान् की चिन्मय सत्ता में विलीन हो जाने की इच्छा नहीं रखता; बल्कि अनन्त काल तक उसमें रमते रहने की कामना करता है। कबीरदास, दादूदयाल यथा निर्गुण-मतवादियों की नित्यलीला और सूरदास, नन्ददास आदि सगुण मतवादियों की नित्य लीला एक ही जाति की है।'[1] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सगुण और निर्गुण मतों की साम्य-सूचक कुछ और विशेषताओं का भी उल्लेख किया है। दोनों ही मतों मे भगवान् और भक्त को समान बताया गया है अर्थात् प्रेम के क्षेत्र मे छोटे-बड़े का प्रश्न नहीं है। प्रेम की महिमा का वर्णन दोनों प्रकार के भक्तों ने समान रूप से किया है। प्रेमोदय के जो क्रम सगुणोपासक भक्तों ने निश्चित किये हैं वे सभी भक्तों मे समान रूप से समादृत हैं। अन्त मे द्विवेदी जी ने लिखा है 'और भी बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनमें सगुण और निर्गुण मतवादी भक्त समान हैं। सभी भक्त अपनी दीनता पर जोर देते हैं, आत्मसमर्पण में विश्वास रखते हैं और भगवान् की कृपा से ही मुक्ति मिल जाती है, इस बात पर सम्पूर्ण रूप से विश्वास करते हैं।'[2] विद्यापति के कई पदों में भी आत्मग्लानि, दीनता, तथा इष्टदेव के प्रति अनन्य प्रेम का भाव व्यक्त हुआ है।

सगुण और निर्गुण मतों के साम्य की यह किंचित् चर्चा इसलिए करनी पड़ी कि भ्रमवश ऐसा मान लिया गया है कि सूरदास तथा अन्य अष्टछापी कवियों के साहित्य में निर्गुण की जो विडम्बना की गई है वह

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ८८-८९।
२. वही, पृ० ९४।

इस बात का सबूत है कि ये कवि निर्गुण मत के कवियों से प्रभावित नहीं हुए और उनका भक्ति काव्य बीच के इन सन्त कवियों से सम्बन्धित न होकर जयदेव और विद्यापति से जोड़ा जाना चाहिए। मैं यह कदापि नहीं कहता कि जयदेव ओर विद्यापति का प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु संत कविय ने सगुण मतवादी कृष्ण काव्य के निर्माण में जो महत्त्वपूर्ण योग दिया है उसे कभी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इन कवियों की भक्ति-सम्बन्धी कविताओं की पचीसों बातें सीधे निर्गुण मतवादी कवियों की परम्परा से प्राप्त हुई। नीचे मैं केवल कृष्णभक्तिसम्बन्धी कविताओं की ही चर्चा करना चाहता हूँ, दूसरे अन्य साम्यसूचक पक्षों पर काफी विचार होता रहा है।

नामदेव अपने कृष्ण-प्रेम का परिचय देते हुए कहते हैं कि 'कामी पुरुष कामिनी पियारो, ऐसी नामे प्रीति मुरारी।' इस प्रकार प्रेमास्पद को ऐसी अनन्य प्रीति करने वाले नामदेव ही कह सकते थे कि हे माधव मुझसे होड़ न लगाओ, यह स्वामी और जन का खेल है :

> बदहु किन होड़ माधव मोसिउ
> ठाकुर ते जन जन ते ठाकुर खेल परिउ है तो सिउ[1]

कविता हालां कि निराकार उपासना से ही सम्बन्ध रखती हैं; किन्तु भक्त के मन का यह अटूट विश्वास, स्वामो के प्रति यह अनन्य भक्ति क्या हमे सूर की कही जाने वाली इन पंक्तियों को याद नहीं दिलाती ?

> बाहँ छुड़ाये जात हो निबल जानि के मोहिं
> हिरदय तैं जब जाहुगे सबल बदौंगे तोहिं

प्रेम की अनन्तव्यापिनी पीड़ा से जहाँ चित्त आपूरित हो जाता है, वहीं वेदना की इतनी बड़ी पुकार सुनाई पड़तो है :

> मोकउ तू न विसारि तू न विसारि तू न विसारै रमईया[2]

नामदेव के मन में जिस प्रकार की विह्वलता है क्या वैसा ही भाव विद्यापति की निम्न पंक्तियों में नहीं दिखाई पड़ता :

---

१. श्री परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित, सन्तकाव्य संग्रह, पृ० १४९।
२. वही, पृ० १५०।

तोहे जनम पुनि तोहे समाइत
सागरि लहरि समाना
भनइ विद्यापति सेष सयनमय
तुअ विनु गति नहिं आव
आदि अनादिक नाथ कहाओसि
अब तारन भार तोहारा

विद्यापति को जो लोग मात्र शृंगारिक कवि कहते हैं संभवतः ऐसे पदों पर ध्यान देना नहीं चाहते; किन्तु इन पदों का ऐतिहासिक महत्त्व है। विद्यापति के ये पद न केवल उस समय की भक्ति-पद्धति की खास विशेषता की सूचना देते हैं; बल्कि इनसे यह भी मालूम होता है कि उनके स्तुतिपरक पद सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के भक्ति-काव्यों की परंपरा में और उन्हें प्रभावित करने वाले हैं।

कबीर को अपने गोविन्द पर पूरा विश्वास है पर उन्हें पास जाने में डर लगता है। नाना प्रकार के मतवादों के चक्कर में पड़कर जीव कष्टों की गठरी ही बाँधता रह जाता है। धूप से उत्तप्त होकर किसी तरु-छाया में विश्वास करना चाहे तो तरु से ही ज्वाला निकलने लगती है, इन प्रपंचों को कबीर समझते हैं इसलिए वे विश्वास से कहते हैं, 'मैं तो तुझे छोड़कर और किसी की शरण में नहीं जाना चाहता :

गोविन्दे तुम पै डरपौं भारी
सरणाई आयो क्यूँ गहिए यह कौन बात तुम्हारी
धूप दाझ तैं छाँह तकाई मति तरवर सचु पाऊँ
तरवर मांहे ज्वाला निकसै तो क्या लेइ बुझाऊँ। १।
तारण तरण तरण तारण तू और न दूजा जानौं
कहै कबीर सरनाई आयों आन देव नहिं मानौं। २।

कबीर के पदों, साखियों तथा अन्य अस्फुट रचनाओं में भगवान् के प्रति उनके अनन्य प्रेम की बड़ी ही सहज और नैसर्गिक अभिव्यक्ति हुई है। मधुर भाव का बीजांकुर कबीर की रचनाओं में मिलता है। यह सत्य है

कि ये रचनायें रहस्य की प्रवृत्ति से रँगी हुई हैं और इनमें निराकार पर-मात्मा और जीवात्मा के मिलन या वियोग के सुख-दुःख का चित्रण है; किन्तु भाव की गहराई और प्रेम की व्यंजना का यह रूप सगुण मत के कवियों को अवश्य ही प्रभावित किये होगा; क्योंकि उनकी रचनाओं में इसी भाव की समानान्तर पंक्तियाँ मिल जाती हैं :

नैना अंतर आव तूं ज्यूं हौं नैन झपेउँ
ना हौं देखौं और कूं ना तुझ देखन देउँ

(कबीर)

इसी प्रकार की पंक्तियाँ मीरां के एक पद में भी आती हैं । प्रेम की वेदना से तप्त जलहीन मीन की तरह यह आत्मा व्याकुल है। विरह का भुजंग इस शरीर को अपनी गुंजलक में लपेटे है, राम का वियोगी कभी जीवित नहीं रह सकता :

विरह भुवंगम तन वसै मंत्र न लागै कोइ
राम वियोगी ना जिवै जिवै त बौरा होइ

(मीरां)

तुम बिनु व्याकुल केसवा नैन रहे जल पूरि
अन्तरजामी छिप रहै तुम क्यों जीवें दूरि
आप अपरछन होई रहै यह क्यों रैन विहाइ
दादू दरसन कारने तलफि तलफि जिय जाइ

(दादू)

तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान
छूटि गए कैसे जन जीवत ज्यों पानी बिनु प्रान

(सूरदास)

रैदास मोह-पाश में बाँधने वाले ईश्वर को चुनौती देते हुए कहते हैं कि तुम्हारे बन्धन से तो हम तुम्हीं को याद कर के छूट जायेंगे; किन्तु माधव हमारे प्रेम-बंधन से तुम कभी न छूट सकोगे :

जउ हम बांधे मोह फास, हम प्रेम बंधनि तुम बांधे
अपने छूटन को जतन करहु हम छूटे तुम आराधे
माधवे जानत हहु जैसी तैसी। अब कहा करहुगे ऐसी ॥

रैदास उस अनन्त सौन्दर्य-मूर्ति पर निछावर हैं। यदि उनका प्रिय विशाल गिरिवर है तो वे उसके अन्तराल में निवास करने वाले मयूर हैं, यदि वह चाँद तो ये चकोर। रैदास कहते हैं कि माधव, यदि तुम प्रेम के इस बन्धन को तोड़ भी दो तो हम कैसे तोड़ सकते हैं, तुम से तोड़कर और किससे जोड़ें :

जउ तुव गिरिवर तउ हम मोरा, जउ तुम चंद तउ हम मये हैं चकोरा
माधवे तुम तोरहु तउ हम नाहिं तोरहिं।
तुम सिउं तोरि कवन सिउं जोरहिं ॥

रैदास की इस प्रकार की कविताओं में प्रेम की जिस सहज अनुभूति और पीड़ा की विवृति हुई है क्या वह परवर्ती काल में सूर की विरहिणी गोपियों की अनुभूतियों से मेल नहीं खाती? सूर की गोपियाँ भी इस प्रकार की परिस्थिति में कही कहती हैं :

तिनका तोर करहु जनि हमसों एक वास की लाज निवाहियो
तुम विनु प्रान कहा हम करिहैं यह अवलंब न सुपनेहु लहियो

कृष्ण भक्ति काव्य के विकास में संगीतकार कवियों ने भी कम योग नहीं दिया। संगीतज्ञ कवियों ने न केवल अपनी स्वर साधना से भाषा को परिष्कार और मधुर अभिव्यंजना प्रदान की, उन्होंने न केवल अप्रितम नाद-सौन्दर्य से कविता को अधिक दीर्घायुष बनाया; बल्कि अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा को आराध्य कृष्ण के चरणों में लुटा भी दिया। इसी कारण संगीतज्ञ कवियों के पद गेयता के लिए जितने लोकप्रिय हुए उतने ही उनमें निहित भक्ति के लिए भी। गोपाल नायक और बैजूबावरा के पदों में आत्म-निवेदन, गोपीप्रेम तथा भक्ति के विविध पक्षों का बड़ा ही विशद् और मार्मिक चित्रण हुआ है। गोपाल नायक की बहुत कम रचनायें प्राप्त हुई हैं। अपने एक पद में वे रास का चित्रण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :

कांधे कामरी गो अलार के नाचे जमुना तीर नाचे जमुना तीर
पीछे रे पाँव रे लेति नाचि लोइ मांगवा।
भुअ आली मृदंग बाँसुरी बजावै गोपाल बैन बतरस ले अनंद
ले मुराद मालवा।

(राग कल्पद्रुम से)

बैजू की कवितायें कृष्ण-लीला के प्रायः सभी पक्षों को दृष्टि में रखकर लिखी गई हैं। नटवर की रूप-मोहिनी, गोपी-प्रेम, विरह, रास, मान,

आदि सभी पक्षों पर लिखी गई इन कविताओं में कवित्व शक्ति का बहुत अच्छा प्रस्फुटन दिखाई पड़ता है। विरह के वर्णन में बैजू ने उद्दीपनों तथा अन्य कवि परिपाटी विहित उपकरणों का प्रयोग नहीं किया है, बड़ी सहज और निरलंकृत भाषा में उन्होंने प्रियवियोग की वेदना को व्यक्त किया है :

प्यारे बिनु मर आए दोउ नैन
जबते स्याम गवन कीयो गोकुल तब तें नाहीं परत री चैन
लगे न भूख न प्यास न निद्रा मुख आवत नहिं बैन
बैजू प्रभु कोई आन मिलावै बाकी बलिहारी दिवस रैन

इस प्रकार हमने देखा कि कृष्णभक्ति का साहित्य कई स्रोतों से विकसित होता हुआ हिन्दी वैष्णव कवियों को प्राप्त हुआ। विद्यापति तथा अन्य वैष्णव कवियों के भक्ति साहित्य का अध्ययन करने तथा उसके तत्त्वों की सही व्याख्या करने के इच्छुक लोगों को इस पृष्ठभूमि का परीक्षण करना चाहिए। सगुण और निर्गुण का इतना बड़ा विभेद जैसा कि आजकल माना जाता है, हमें इन कवियों के काव्य का सही मूल्यांकन करने में बाधा पहुँचायेगा। विद्यापति के काव्य के विषय में प्रायः यह शंकाएँ की जाती हैं कि यह रहस्यवादी भक्ति काव्य है, या केवल शृंगारप्रधान प्रेमकाव्य। भक्ति और शृंगार के विषय में भी हमारे मन में कुछ धारणाएँ बद्धमूल हो गई हैं। बहुत से लोग विद्यापति आदि के नखशिख वर्णनों को देखकर इतने घबरा जाते हैं कि उन्हें इन कवियों की भक्ति भावना पर ही

अविश्वास होने लगता है। प्रत्येक महाकवि अपनी परम्परा का परिणाम होता है। यह सच है कि जीवंत कवि पुरानी रूढ़ियों को तोड़कर नई भावधारा की सृष्टि करता है और पुराने प्रथा-प्रथित वर्णनों की शृङ्खला का विच्छेद करके नये उपमान-मुहावरे, प्रतीकों का निर्माण करता है; किन्तु कोई अपनी परम्परा से एकदम विच्छिन्न कभी हो ही नहीं सकता। विद्यापति के काव्य को समझने के लिए तत्कालीन काव्य की मर्यादाओं को, नियमावलियों को तथा कविजनोचित उस परम्परा को समझना होगा जो उन्हें विरासत के रूप में मिली थी।

निर्गुण काव्य का संबंध जैनधर्मी कवियों से या सिद्धों से जोड़ा जाता है। इस प्रकार निर्गुण मतवादी प्राचीनता प्रमाणित करने का तो साधन प्राप्त हो जाता है; किन्तु जब हम सगुण काव्य को निर्गुण का एक दम विरोधी मान लेते हैं तो इसका आरंभ १६वीं शताब्दी मे मानना अनिवार्य हो जाता है। यह स्थिति कितनी काल्पनिक है, इसे हमने ऊपर देखा है। यदि अपभ्रंश में, प्राप्त होने वाली रचनाओं का सही विवेचन किया जाये तो सगुण काव्य को १०वीं शताब्दी से ही आरंभित मानना पड़ेगा। अपभ्रंश साहित्य को भक्तिपरक रचनाओं की मुख्य विशेषताएँ ये हैं :

(१) राधाकृष्ण सम्बन्धी पदों में भक्ति और शृङ्गार का समन्वय।

(२) स्तुतिपरक रचनाओं का बाहुल्य इनमें कृष्ण और शिव की स्तुति समवेत रूप में की गई है।

(३) शृङ्गार का रूप बहुत मुखर है।

(४) निर्गुण मतवाद की सृष्टि करनेवाली रचनाओं में भी आत्मनिवेदन, शरण-प्रणति तथा भक्त के अनन्य प्रेम की सूचना देनेवाली प्रवृत्तियाँ मिलती हैं।

(५) गोपाल नायक और बैजूबावरा जैसे संगीतज्ञ कवियों के काव्य में संगीत, प्रेम और भक्ति का समन्वय है जैसा विद्यापति के काव्य में दिखाई पड़ता है।

●

शृङ्गार और भक्ति

भक्ति और शृंगार दोनों ही मध्यकालीन साहित्य की अत्यन्त प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। भक्त कवियों के शृंगारिक वर्णनों को लेकर आलोचकों ने बहुत निर्मम आक्षेप किये हैं। आचार्य शुक्ल जैसे अपेक्षाकृत उदार और सिद्ध आलोचक ने भी सूर के बारे में विचार देते हुए उनके शृंगारिक प्रेम के विषय में यही शिकायत की है। उन्होंने लिखा है कि 'समाज किधर जा रहा है इस बात की परवाह ये नहीं रखते थे। यहाँ तक कि अपने भगवत्प्रेम की पुष्टि के लिए जिस शृंगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना से उन्होंने जनता को रसोन्मत्त किया उसका लौकिक स्थूल दृष्टि रखनेवाले विषयवासना पूर्ण जीवों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा, इसकी ओर इन्होने ध्यान न दिया। जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन भक्तों ने अपनी गूढ़ातिगूढ़ चरम भक्ति का विषय बनाया उसको लेकर आगे के कवियों ने शृंगार की उन्मादकारिणी उक्तियों से हिन्दी काव्य को भर दिया।' शुक्ल जी के इस कथन से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली तो यह कि वे कृष्णभक्ति में शृंगार की अति वर्णना को समाज की दृष्टि से कल्याणकारी नहीं मानते, दूसरी यह कि रीतिकाल के कामोद्दीपन चित्रणों की अतिशयता का कारण भक्त कवियों के शृंगारिक चित्रणों को ही मानते हैं। इस प्रकार के मत दूसरे कतिपय आलोचकों ने भी व्यक्त किये हैं। प्रश्न उठता है कि क्या हिन्दी साहित्य में, सूरदास के पहले शृंगारपूर्ण चित्रणों का अभाव है? क्या भक्त कवियों ने शृंगारिक चित्रण की शैली को आकस्मिक रूप से उद्‌भूत किया, क्या इस प्रकार के वर्णनों की कोई परिपाटी उनके पहले के साहित्य में नहीं थी? ऐसे प्रश्नों के उत्तर के

लिए हमें मध्यकालीन संस्कृति, समाज और उसमें प्रचलित विश्वासों का पूर्ण विश्लेषण करना होगा। हमें यह देखना होगा कि शृंगार की तत्कालीन कल्पना क्या थी। शृंगार की मर्यादा क्या थी और उसके किस स्वरूप को समाज में स्वीकार किया गया। जयदेव जैसे कवि ने शृंगार और भक्ति को परस्पर समन्वित भावधारा के रूप में ग्रहण किया। उन्होने स्पष्ट कहा कि यदि 'हरि-स्मरण' में मन सरस हो और यदि विलास कला में कुतूहल हो तो जयदेव की मधुर कोमलकान्त पदावली को सुनो :

यदि हरि स्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्
मधुर-कोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेव-सरस्वतीम्
(गीतगोविन्दम्, श्लोक ३)

वह कौन-सी सामाजिक परिस्थिति थी जो जयदेव जैसे विख्यात रससिद्ध कवि को यह निःसंकोच कहने को प्रेरित करती थी कि काम-कला और हरि-स्मरण उनकी पदावली में एकत्र सुलभ हैं। यह केवल जयदेव जैसे कवि के मन की ही बात नहीं है। काव्य तो व्यक्ति के मन की अभिव्यक्ति है। इसलिए तत्र निहित सत्य को हम वैयक्तिक धारणा भी कह सकते हैं। उस काल के धार्मिक ग्रन्थों में जो भक्ति के नियामक तत्त्वों का विश्लेषण करते हैं, शृंगार और भक्ति की इस समन्वय-धर्मिता के बारे में विशद् रूप से विचार किया गया है। भक्ति की चरमोपलब्धि के लिए साधक को कई सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं। भागवत के एक श्लोक में श्रद्धा तथा रति को भक्ति का क्रमिक सोपान बताया गया है :

सतां प्रसंगान्मम वीर्यसंविदो भवंति हृत्कर्णरसायनाः कथाः
तज्जोषणदाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति
(भागवत, ३।२०।२२)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'स्त्री-पूजा और उसका वैष्णवरूप' शीर्षक निबन्ध में इस विषय पर काफी विस्तार के साथ विचार किया है।[1] उन्होंने लिखा है कि भारतवर्ष में परकीया-प्रेम बहुत पुराने-जमाने से एक खास

---

१. सूर साहित्य, संशोधित संस्करण, १९५६, बम्बई, पृ० २०–६०।

सम्प्रदाय का धर्म-सा था। कहा जाता है कि ऋग्वेद (१०।१२९।२५) से इस परकीया-प्रेम का समर्थन होता है। अथर्ववेद (६।५।२७।२८) में उसका स्पष्ट वर्णन पाया जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् (२।१३।१) के 'कांचन परिहरेत्' मन्त्रांश का अर्थ आचार्य शंकर ने इस प्रकार लिखा है—जो वामदेव सामन् को जानता है उसे मैथुन की विधि का कोई बन्धन नहीं है—उसका मत है कि किसी स्त्री को मत छोड़ो। अवश्य ही इस मतवाद को वैदिक युग में बहुत अच्छा नहीं समझा जाता होगा।'[1] कथावस्तु जातक (२३।२) और मज्झिम निकाय (भाग १, पृष्ठ १५५) से भी सिद्ध होता है कि बुद्ध काल में भी यह प्रथा प्रचलित थी। भगवान् बुद्ध ने कई स्थलों पर इसकी निन्दा की है।[2]

बौद्ध धर्म के अन्तिम दिनों में वज्रयान सम्प्रदाय का जोर था उसके प्रभाव से 'पंचमकारसेवन' का बहुत प्रचार हुआ। महासुख की प्राप्ति के लिए त्रिपुर सुन्दरी को पराशक्ति के रूप में निरंतर साथ रखना आवश्यक माना जाने लगा। तंत्रवाद में रति और शृंङ्गार की भावना को एक नया स्वरूप और आध्यात्मिकता का रंग मिला। वैष्णव-धर्म में नारी पुरुष की पूरक दिव्य शक्ति के रूप में अवतरित हुई। उज्ज्वल नीलमणि में राधा को कृष्ण की ह्लादिनी शक्तिस्वरूपा बताया गया जिनके सहवास के बिना कृष्ण अपूर्ण रहते हैं।[3] चैतन्य देव ने परकीया-प्रेम को भक्ति का मुख्य साधन बताया। नारी-पुरुष के सामान्य प्रेम के विविध पक्षों का ज्यों का त्यों भक्ति के विविध पक्षों के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया। कामशास्त्र का भक्ति पर क्या प्रभाव पड़ा, इस पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं।

यह सैद्धान्तिक पक्ष है। विद्यापति, सूरदास तथा अन्य ब्रजकवियों को इससे वैचारिक प्रेरणा ही मिली। शृङ्गार के वर्णनों की व्यावहारिक

---

१. वही, पृ० २३-२४।

२. दी कलकत्ता रिव्यू, जून, १९२७, पृ० ३६२-६३ तथा मनीन्द्रमोहन बोस का 'पोस्ट चैतन्य सहयीया कल्ट', पृ० १०१।

३. उज्ज्वल नीलमणि. कृष्णवल्लभा, ५।

प्रेरणा उन्हें गीतगोविन्द तथा प्राचीन भागवातादि संस्कृत ग्रंथों से तो मिली ही, किन्तु सीधा प्रभाव उनके ऊपर प्राचीन ब्रजभाषा के काव्य का पड़ा इसमें सन्देह नहीं। प्राचीन ब्रज का मतलब यहाँ प्राकृत-अपभ्रंश की परम्परा से है।

ऐतिहासिक शृङ्गारिक रचनाओं का आरम्भ ६वीं-७वीं शताब्दी के संस्कृत वाङ्मय में दिखाई पड़ता है। ऐसा नहीं कि इस प्रकार की रचनायें पहले के साहित्य में प्राप्त नहीं होतीं। वैदिक साहित्य में भी इस प्रकार की रचनाओं का संकेत मिलता है किन्तु वहाँ मानव मन में दैवी-शक्तियों का आतंक तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का प्रभाव उग्र रूप में वर्तमान है। संस्कृत काव्य देवताओं के स्तुति गान की वैदिक परम्परा की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ इसलिए उसमें पौराणिकता और नैतिक रूढ़िवादिता की सर्वदा प्रधानता बनी रही। विद्वानों की धारणा है कि लौकिक शृङ्गारपरक काव्यों का आरम्भ प्राकृत काल से हुआ, खासतौर से चौथी-पाँचवीं शताब्दी में विभिन्न जातियों के मिश्रण और उत्तर-पश्चिम से आई हुई विदेशी जातियों की संस्कृति के संपर्क के कारण। हूणों और आभीरों के भारत आगमन के बाद मध्यदेशीय प्राकृत भाषा इनके सम्पर्क और प्रभाव से एक नये रूप में विकसित हुई और इनकी स्वच्छन्द शौर्य और रोमांस की प्रवृत्ति ने इस भाषा के साहित्य को भी प्रभावित किया। मध्यकालीन संस्कृति में निजंधरी कथाओं का सहारा लेकर रोमांस लिखने की परिपाटी जिसका परम विकास बाणभट्ट में दिखाई पड़ता है—शुद्ध रूप से भारतीय शैली नहीं कही जा सकती। अपभ्रंश की रचनायें तो इस मध्यकालीन संस्कृत रोमांस की पद्धति से भी भिन्न हैं क्योंकि इसमें आमुष्मिकता का आतंक बिल्कुल ही नहीं दिखाई पड़ता। हाल की गाथा-सतसई के वर्ण्य-विषय की नवीनता की ओर संकेत करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमिकों की रसमयी क्रीड़ायें, उनका घात-प्रतिघात इस ग्रन्थ में अतिशय जीवित रूप में प्रस्फुटित हुआ

चेष्टायें, चक्की पीसती हुई या पौधों को सींचती हुई सुन्दरियों के मर्मस्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओं का भावोत्तेजन आदि बातें इतनी जीवित, इतनी सरस और इतनी हृदयस्पर्शी हैं कि पाठक बरबस इस सरस काव्य की ओर आकृष्ट हो जाता है। यहाँ वह एक अभिनव जगत् में प्रवेश करता है जहाँ आध्यात्मिकता का झमेला नहीं है। कुश और वेदिका का नाम नहीं सुनाई देता। स्वर्ग और अपवर्ग की परवाह नहीं की जाती, इतिहास और पुराण की दुहाई नहीं दी जाती।' द्विवेदी जी ने बड़े सूक्ष्म ढंग से प्राचीन श्रृंगार की इस नयी धारा और प्राचीन संस्कृत काव्यों की चेतना का अन्तर स्पष्ट किया है। हाल की गाथासप्तशती को विद्वानों ने लोक-साहित्य की परम्परा का प्रभाव बताया है। वह लोक-साहित्य-परम्परा क्या थी, इसका निर्णय देना कठिन है, किन्तु उस लोक-साहित्य-परम्परा के अग्रिम विकास का विवरण अवश्य दिया जा सकता है क्योंकि वह अपभ्रंश में सुरक्षित है।

हाल की गाथा-सतसई में ही शृङ्गार के दोनों पक्षों का जो चित्रण प्रस्तुत किया गया है, वह इतना मार्मिक है कि परवर्ती काल के कवियों ने विद्यापति, सूरदास आदि ने उन अनूठी उक्तियों को बिल्कुल अपना बना लिया। इस तरह के दो एक उदाहरणों को देखने से इस काव्य की चेतना और परवर्ती काव्य को प्रभावित करने की शक्ति का पता चलता है।

परदेशी प्रिय लौटकर आता नहीं। नायिका उसके प्रेम की अतिशयता के कारण 'प्रिय आज ही गया है, आज ही गया है' ऐसा कहकर जो रेखा खींच देती है उनसे दीवार भर गई; किन्तु वह आया नहीं :

अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जं गओति गण्डोए
पढम व्विअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहिं चित्तलिओ (३।८)

विद्यापति की नायिका तो दिवस की रेखा खींचते-खींचते अपने नाखूनों को ही खो चुकी है, किन्तु श्याम मथुरा से लौटने का नाम नहीं लेते :

कत दिन माधव रहब मथुरापुर कवे घुचब विहि वाम
दिवस लिखि लिखी नखर खोयाओल बिछुरल गोकुल नाम

विद्यापति का इसी भाव का एक दूसरा पद देखिये :

कालिक अवधि करिअ पिय गेल
लिखइते कालि भीति भरि गेल
भले प्रभात कहत सबहीं
क कह सजनि कालि कबहीं

हेमचंद संकलित दोहों मे भी एक में यही भाव व्यक्त किया गया है :

जो मइ दिण्णा दिअहडा दइए पवसेन्तंण
ताण गणन्तिएँ अंगुलिउ जज्जरिआउ नहेण

गाथासप्तशती की एक दूसरी गाथा में नायिका अपने प्रिय के आगमन पर कहती है कि तुम्हारे आने पर सभी प्रकार के मंगल आयोजन करके तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ। नयनोत्पल से मैंने पथ प्रकीर्ण किया है और कुचों का कलश बनाकर हृदय के द्वार पर स्थापित कर दिया है :

रत्थापइण्णणा अणुप्पला तुमं सा पडिच्छये एन्तम
दारणि हियेहिं दोहिं वि मंगलकलसेहिव थणेहिं (२।४०)

सूर की गोपी कृष्ण के आने पर अपनी हृदय की कमल-कुटी में आसन ठीक करती है और मंगल-कलश की तरह उसके स्तन चोली के बन्धन तोड़कर स्वयं ही प्रकट हो जाते हैं :

करत मोंहि कछुवै न बनी
हरि आये चितवत ही रही सखि जैसे चित्रधनी
अलि आनन्द हरष आसन उस कमल कुटी अपनी
हृदय उमंगि कुच कलस प्रकट भये टूटी तरकि तनी

(सूरसागर, १८८०)

विद्यापति की राधा कहती है कि हे प्रियतम, तुम्हारे आने पर मैं अपनी देह के प्रत्येक अंग से मांगलिक आयोजन का साज करूँगी। दोनों कुचों को कनक-कुंभ की तरह स्थापित करूँगी और आँखों में काजल लगाकर उन्हें अपशकुन निवारणार्थ रखे हुए काजल-चित्रित दर्पण की तरह रखूँगी :

पिया जब आओब मझु गेहे
मंगल जतनु करब निज देहे
कनअ कुंभ करि कुच युग राखी
दरपन धरब काजर देइ आँखि

प्रिय से मिलने को उत्सुक नायिका अभिसार के लिए जाने से पहली इतनी प्रेमविह्वल हो गई है कि वह निमीलता सी अपने घर में ही चहलकदमी कर रही है :

अज्ज भए गन्तव्यं घण अन्धारे वि तस्स सुहस्स
अज्जा निमीलिअच्छी पअ परिवाडि घरे कुरइ (३।४६)

सूर की राधा की भी तो अभिसार को उत्सुकता के कारण यही हालत हो जाती है :

आप उठी आँगन गई फिरि घर ही आई
कबधौं मिलिहौं स्याम कौं पल रह्यो न जाई
फिरि फिरि अजिरहिं भवनहिं तलवेली लागी
सूर स्याम के रस भरी राधा अनुरागी
(सूरसागर, १९६६)

संक्रान्तिकालीन अपभ्रंश में लिखे हुए दोहों में मुंजराज और मृणालवती के प्रेम पर लिखे हुए दोहे अपनी रसमयता और सांकेतिकता के लिए प्रसिद्ध हैं। आरंभिक ब्रजभाषा में लिखे ये दोहे शृङ्गार काव्य के 'मुक्ताहल' हैं। इनमें सहज प्रेम और नैसर्गिक माधुर्य की एक पराकाष्ठा दिखाई पड़ती है :

मुंज भणइ मुणालवइ जुव्वण गयुं न झूरि
जो सक्कर सय सण्ड थिय सोवि स मीठी चूरि

शर्करा का सौवाँ खण्ड भी क्या मिठास कम होता है! मुंज अपनी प्रौढ़ा नायिका को हर प्रकार से आश्वस्त करना चाहता है।

हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में संकलित दोहों में प्रेम और शृङ्गार की अत्यन्त स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है। विरह की निगूढ़ वेदना को व्यक्त

करने वाले एक-एक दोहे में परवर्ती ब्रजभाषा के विरहवर्णनों का पूरा इतिहास भरा पड़ा है। प्रिय-विश्लेषण:दुख से पीड़ित नायिका पी-पी पुकारने-वाले चातक से कहती है—रे निरीह चातक क्यों व्यर्थ 'पिउ-पिउ' पुकार रहा है? इतना रोने से क्या होगा? तेरी जल से और मेरी बल्लभ से कभी आशा पूरी न होगी :

वप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास
तुह जलि महु पुणु वल्लहइ विहुं वि न पूरिअ आस

पपीहे के बार-बार पुकारने पर वेदना-विजड़ित चित्त से वह नि[illegible]। स्वाभाविक मानती हुई, आक्रोश भी व्यक्त करती है; चिल्लाने से कुछ न होगा, विमल जल से सागर भरा है किन्तु अभागे को एक बूँद भी नहीं मिलती :

वप्पीहा कइं वोल्लिएण निग्घिण वारहिं बार
सायर भरिअइ विमल जल लहइ त एकइ धार

सूर की गोपियों के विरह-वर्णन को जिन्होंने पढ़ा है वे जानते हैं कि पपीहा के प्रति प्रेम-आक्रोश, सहानुभूति के कितने शब्द गोपियों ने नाना प्रकार के करुणापूर्ण भावोच्छ्वास के साथ सुनाये हैं :

(१) सखी री चातक मोंहि जियावत
जैसे हि रैनि रटत हों पिव-पिव तैसैंहि वह पुनि गावत (३३३४)

(२) अजहु पिय पिय रजनि सुरति करि झूठों ही मुख मागत वारि।
(३३५)

(३) सब जग सुखी दुखी तू जल बिनु तउ न उर की बिथा विचारत।
(३३३८)

मिलन या संयोग शृङ्गार में जड़ता या अचेतन की स्थिति का वर्णन किया जाता है। अपभ्रंश दोहे में एक नायिका कहती है कि अंग से अंग न मिले, अधरों से अधर न मिले, मैंने तो प्रिय के मुख-कमल को देखते ही रात बिता दी :

अंगहि अंग न मिलिउ हलि अहरें अहर न पत्तु
पिउ जोअन्तिहे मुह कमल एम्बइ सुरउ समत्तु

प्रिय के सौन्दर्य का ऐसा ही अप्रतिम चित्रण सूरदास की रचनाओं में भरा पड़ा है :

कमल नैन मुख बिनु अवलोकैं रहत न एक घरी
तब तैं अंग अंग छबि निरखत सो चित्त तें न टरी।

(सूर०, ६३८६)

दोहों में कुछ तो सच्चे शृङ्गार और प्रेम के दोहे हैं, कुछ शृङ्गारिक उक्तियों और उत्तेजन भाव के भी हैं जिनका अतिवादी विकास बाद में बिहारी आदि रीतिकालीन कवियों के काव्य में दिखाई पड़ता है। इनमें शृङ्गार का गम्भीर रूप नहीं दिखाई पड़ता, ऊहात्मक अथवा अत्यन्त सस्ती कोटि की कामुक और शृङ्गारिक चेष्टाओं की विवृत्ति दिखाई पड़ती है। रीतिकालीन कविता को सस्ते किस्म के शृङ्गार की प्रेरणा भी यहीं से मिली, इसे भक्तिकाल के शृङ्गार का ही विकास नहीं कहना चाहिये, वैसे सूर तथा अन्य भक्त कवियों ने शृङ्गार का कहीं-कहीं बड़ा उद्दाम और विक्षोभक चित्रण भी किया है जो मर्यादित नहीं है, ऐसे चित्रणों ने ही रीतिकालीन कविता को शृङ्गार की अश्लील कोटि तक पहुँचाने में मदद की। इसके लिए कुछ अंशों में सूर, विद्यापति आदि के रति और सम्भोग के शृङ्गारिक वर्णन भी उत्तरदायी हो सकते हैं। इस प्रकार अष्टछाप के भक्त कवि अथवा रीतिकालीन कवियों की घोर शृङ्गारिक चेष्टाओं वाले काव्य की भी प्रेरणा प्राचीन ब्रज के इन दोहों में वर्तमान थी :

विट्टी ए मइ भणिय तुहुँ मा कुरु वंकी दिट्ठ
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हियइ पइट्ठ

हे पुत्री! मैंने तुझसे कहा था कि दृष्टि बाँकी मत कर। यह अनीदार भाले की तरह हृदय में पैठ कर चोट करती है।

जैन कवियों की श्रृंगार और प्रेम-भावना

जैन काव्य धार्मिक माने जाते हैं; किन्तु जिन लोगों को यह देखना हो कि धार्मिक काव्यों में शृङ्गार का सम्मिश्रण कैसे होता है वे कृपाकर के इन धार्मिक जैन काव्य को देखें।

जैन-कवियों पर यह आरोप लगाया जाता है कि उनमें जीवन-विरक्ति बहुत अधिक मात्रा में है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने इसी की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि "साधारणतया जैन-साहित्य में जैन धर्म का ही शान्त वातावरण व्याप्त है, सन्त के हृदय में शृङ्गार कैसा?"[1] जैन काव्य में शान्ति या शम की प्रधानता है अवश्य; किन्तु वह आरम्भ नहीं परिणति है। सम्भवतः पूरे जीवन को शम या विरक्ति का क्षेत्र बना देना प्रकृति का विरोध है। जैन कवि इसे अच्छी तरह जानता है इसलिए उनसे शम या विरक्ति को उद्देश्य के रूप में मानते हुए भी सांसारिक वैभव, रूप, विलास और कामासक्ति का चित्रण भी पूरे यथार्थ के साथ प्रस्तुत किया है। जीवन का भोग-पक्ष इतना निर्बल तथा सहज आक्राम्य नहीं होता इसका आकर्षण दुर्निवार्य है, आसक्ति स्वाभाविक; इसीलिए साधना के कृपाण-पथ पर चलने वालों के लिए तो यह और भी भयंकर हो जाते हैं। भिक्षु बज्रयानी बन जाता है, शैव कापालिक। राहुल जी ने लिखा है कि 'इस युग में तन्त्र-मन्त्र, भैरवी चक्र या गुप्त यौन-स्वातन्त्र्य का बहुत जोर था। बौद्ध और ब्राह्मण दोनों ही इसमें होड़ लगाए हुए थे भूत-प्रेत, जादू-मन्तर और देवी-देवतावाद में जैन भी किसी से पीछे नहीं थे। रहा सवाल वाम-मार्ग का, शायद उसका उतना जोर नहीं हुआ, लेकिन यह बिल्कुल ही

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १००।

नहीं था यह भी नहीं कहा जा सकता। आखिर चक्रेश्वरी देवो यहाँ भी विराजमान हुईं और हमारे मुनि कवि भी निर्वाण-कामिनी के आलिंगन का खूब गीत गाने लगे।[1] सिद्ध साहित्य की अपेक्षा जैन साहित्य में रूप-सौन्दर्य का चित्रण कहीं ज्यादा बारीक और रंगीन हुआ है, क्योंकि जैन धर्म का संस्कार रूप को निर्वाण प्राप्ति के लिए सहायक नहीं मानता, रूप अदम्य आकर्षण की वस्तु होने के कारण निर्वाण में बाधक है—इस मान्यता के कारण जैन कवियों ने शृङ्गार का बड़ा ही उद्दाम वासनापूर्ण और क्षोभ-कारक चित्रण किया है, जड़ पदार्थ के प्रति मनुष्य का आकर्षण जितना घनिष्ठ होगा, उससे विरक्ति उतनी ही तीव्र। शमन शक्ति की महत्ता का अनुमान तो इन्द्रिय भोग-स्पृहा की ताकत से ही किया जा सकता है। नारी के शृङ्गारिक रूप, यौवन तथा तज्जन्य कामोत्तेजना आदि का चित्रण इसी कारण बहुत सूक्ष्मता से किया गया है।

मुनि स्थूलभद्र पाटलिपुत्र मे चौमासा बिताने के लिए रुक जाते हैं, इनके रूप और ब्रह्मचर्य से तेजोदीप्त शरीर को देखकर एक वेश्या आसक्त हो जाती है। अपने सौन्दर्य के अप्रतिम संभार से मुनि को वशीभूत करने के लिए तत्पर उस रमणी का रूप कवि इन शब्दों में साकार करता है :

कन्न जुयल जसु लहलहंत किर मयण हिंडोला
चंचल चपल तरंग चंग जसु नयण कचोला
सोहइ जासु कपोल पालि जणु गालि मसूरा
कोमल विमल सुकंठ जासु वाजइ सखतूरा

प्रकम्पित कर्ण युगल मानों कामदेव के हिंडोले थे, चंचल उर्मियों से आपूरित नयन कचोले, सुन्दर विषैले फूल की तरह प्रफुल्लित कपोल-पालि, शंख की तरह सुडौल सुचिक्कण निर्मल कंठ......उसके उरोज शृङ्गार के स्तवक थे, मानो पुष्पधन्वा कामदेव ने विश्वविजय के लिए अमृत कुंभ की स्थापना की थी :

---

१. हिन्दी काव्यधारा, पृ० ३७।

तंगु पयोहर उल्लसइ सिंगार थपक्का
कुसुम वाण निय अमिय कुम्भ किर थापण मुक्का

कहीं कुच प्रिय आगमन के अवसर पर मंगल-कलश बनते हैं, कहीं विजय-प्रयाण के अवसर पर। नव यौवन से विहंसती हुई देह वाली, प्रथम प्रेम से उल्लसित रमणी अपने सुकुमार चरणों के अशिंजित पायल की रुनझुन से दिशाओं को चैतन्य करती हुई मुनि के पास पहुँची तो आकाश में कौतिक-प्रिय देवताओं की भीड़ लग गई। वेश्या ने अपने हाव-भाव से मुनि को वशीभूत करने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु मुनि का हृदय उस तप्त लोहे की तरह था जो उसकी बात से बिंध न सका। जिसने सिद्धि से परिणय कर लिया और संयम श्री के भोग में लीन है, उसे साधारण नारी के कटाक्ष कब डिगा सकते हैं :

मुनिवइ जंपइ वेस सिद्धि रमणी परिणेवा
मनु कीनउ संयम सिरि सों भोग रमेवा

यह है जैन कवि की अनासक्त रूपासक्ति। वह तिल-तिल जुटाकर सौन्दर्य के जिस ऐन्द्रजालिक माया-रूप का निर्माण करता है, उसी को एक ठेस से बिखरा देने में उसे कभी संकोच नहीं होता। प्रेम के प्रसंगों में ऋतुवर्णन का प्रयोग प्रायः होता है। यह वर्णन उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उद्दीपनगत प्रकृतिचित्रण प्रायः प्रथा-प्रथित रूढ़ियों में आक्रान्त होता है। उपकरण प्रायः निश्चित है उन्हीं के आधार पर प्रकृति को इतना आकर्षक और रुचिकर बनाना है कि यह निश्चित भाव को उद्दीप्त कर सके। ऐसी अवस्था में प्रायः वस्तुओं की नाम-परिगणना तो हो जाती है, किन्तु उद्दीपन का कार्य भी पूरा नहीं होता यानी वह प्रकृति-वर्णन सहृदय के मन को रंच मात्र भी नहीं छू पाता। जिन पद्मसूरि ने थूलिभद्द फागु में वर्षा का वर्णन किया है। यह वर्णन वस्तु-परिगणना पद्धति का ही है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु शब्दों का चयन कुछ इतना उपयुक्त है कि प्रकृति का एक सजीव चित्र खड़ा हो जाता है। ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग प्रकृति के कई उद्दाम उपकरणों को रूपाकार देने में सहायक हुए हैं :

झिरि झिरि झिरिमिर झिरिमिर ए मेहा वरिसंत
खलहल खलहल खलहल ए वादला बहंत
झब झब झब झब झब झब ए बिजुलिय झबकइ
थरहर थरहर थरहर ए बिरहिणि मणु कंपइ ॥ ६ ॥
महुर गंभीर सरेण मेह जिमि जिमि गाजन्ते
पंच बाण निज कुसुम बाण तिम तिम साजन्ते
जिमि जिमि केतकि महमहंत परिमल विहसावइ
तिमि तिमि कामिय चरण लगिग निज रमणि मनावइ ॥ ७ ॥

उसी प्रकार नेमिनाथ चौपई में नेमि और राजमति के प्रेम का अत्यन्त स्वाभाविक और संवेद्य चित्रण किया गया है। पारिवारिक प्रेम की इस पवित्र वेदना से किस सहृदय का मन द्रवीभूत नहीं हो जाता? मधुमास के आगमन पर पवन के झकोरो से वृक्षों के जीर्ण पत्ते टूट कर गिर पड़ते हैं मानों राजल के दुःख से वृक्ष भी रो पड़ते हों। चैत में जब नव वनस्पतियाँ अंकुरित हो जाती हैं, चारों ओर कोयल की टहकार गूँजने लगती है, कामदेव अपने पुष्पधनु से राजल के हृदय को बेधने लगता है:

फागुन वागुनि पन्न पडन्त, राजल दुक्ख कि तरु रोयन्त
चैतमास वणसइ पंगुरइ, वणि वणि कोयल टहका करइ
पंचवाण करि धनुष धरेइ, वेझइ माडी राजल देइ
जुइ सखि मातेउ मास वसन्त इणि खिल्लिजइ जइ हुत कन्त

किन्तु माधवी क्रीड़ा के लिए लालायित राजल का पति नहीं आता। ज्येष्ठ का उत्तप्त पवन धू-धूकर चलने लगता है, नदियाँ सूख जाती हैं, चम्पालता को पुष्पित देखकर नेह-पगी राजल बेहोश हो जाती है:

जिट्ठ विरह जिमि तप्पइ सूर, छण वियोग सूखिउ नइ पूर
पिक्खिउ फुल्लिउ चंपइ विल्लि, राजल मूर्छी नेह गहिल्लि

जैन कवि पौराणिक चरित्रों में भी सामान्य जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की ही स्थापना करता है। उसके चरित्र अवतारी जीव नहीं होते इसीलिए उनके प्रेमादि के चित्रण देवत्व के आतंक से कभी भी कृत्रिम नहीं हो पाते। वे एक ऐसे जीवात्मा का चित्रण प्रस्तुत करते हैं जो अपनी

आन्तरिक शक्तियों को वशीभूत करके परमेश्वर पद को प्राप्त करने के लिए निरन्तर सचेष्ट है। उसकी ऊर्ध्वमुखी चेतना आध्यात्मिक वातावरण में साँस लेती है, किन्तु पंक से उत्पन्न कमल की तरह उसकी जड़-सत्ता सांसारिक वातावरण से अलग नहीं है। इसीलिए संसार के अप्रतिम सौन्दर्य को भी तिरस्कृत करके अपने साधना-मार्ग पर अटल रहने वाले मुनि के प्रति पाठक अपनी पूरी श्रद्धा दे पाता है। जैन शृंगार-वर्णन के इस विवरण से इतना स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक काव्यों में जिनका मुख्य उद्देश्य भक्ति का प्रचार था, शृंगार कभी उपेक्षित नहीं रहा, बल्कि इन वर्णनों से तो इसकी अतिशयता का भी पता चलता है।

नखशिख तथा रूप-चित्रण

रीतिकाल की शैली को यदि एकदम संकुचित अर्थ में कहना चाहें तो नखशिख चित्रण और नायिका भेद की शैली कह सकते है। परवर्ती संत साहित्य मे ही इस प्रकार की शैली का प्रादुर्भाव हो गया था। एकदम रूढ़ अर्थ मे उसे ऐसा न भी मानें तो भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि भवभूति, माघ, श्रीहर्ष आदि की कृतियो मे नखशिख वर्णन अथवा मानव रूप-चित्रण ज्यादा अलंकरण-प्रधान और विलक्षणता-बोधक होने लगा था। आचार्य शुक्ल ने नखशिख वर्णनों की अतिवादी परिणति की निन्दा करने हुए, मनुष्य के सहज रूप के चित्रण की विशेषता बताते हुए कहा है कि 'आकृति चित्रण का अत्यन्त उत्कर्ष वहाँ समझना चाहिए जहाँ दो व्यक्तियों के अलग-अलग चित्रों मे हम भेद कर सकें।'[१] शुक्ल जी ने इसी प्रसंग में रीतिकालीन कवियों की शैली को अत्यन्त निकृष्ट बताते हुए लिखा है कि 'यहाँ हम रूप-चित्रण का कोई प्रयास नहीं पाते केवल विलक्षण उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की भरमार पाते हैं। इन उपमानों के योग द्वारा अंगों की सौन्दर्य-भावना से उत्पन्न सुखानुभूति में अवश्य वृद्धि होती है, पर रूप निर्दिष्ट नहीं होता।'[२]

---

१. चिन्तामणि, भाग २, काशी २००२, पृ० ३९।
२. वही, पृ० ३८।

नखशिख-वर्णन विद्यापति या सूर तथा उनके अन्य समसामयिक ब्रज-भाषा कवियों में मिलता है। कहीं-कहीं तो इस चित्रण में वस्तुतः रूढ़ियों के प्रयोग की इयत्ता हो जाती है। सूरदास के 'अद्भुत एक अनूपम बाग'-वाले प्रसिद्ध नखशिख-चित्रण को लक्ष्य करके शुक्ल जी ने लिखा था कि 'इस स्वभाव सिद्ध (तुलसी के) अद्भुत व्यापार के सामने कमल पर कदली कदली पर कुंड, शंख पर चन्द्रमा आदि कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध रूपकातिशयोक्ति के कागजी दृश्य क्या चीज हैं?'[1] हमें यहाँ पर विचार करना है कि विद्यापति, सूर आदि की कविताओं में जो इस प्रकार की 'कवि प्रौढ़ोक्ति, रूप-कातिशयोक्ति' की अधिकता दिखाई पड़ती है, उसका कारण क्या है? मैंने ऊपर निवेदन किया है कि संस्कृत के परवर्ती काव्यों में भी इस प्रकार के अलंकरण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है; किन्तु नखशिख-वर्णन की इस शैली का विकाश—इस अतिशयतावादी शैली का—परवर्ती जैन अपभ्रंश काव्यों तथा आरंभिक ब्रजभाषा की रचनाओं में भी दिखाई पड़ता है। थूलि-भद्दफागु में वेश्या के रूप-वर्णन मे यद्यपि शैली रूढ़ है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु लेखक ने उसे 'विलक्षणता' प्रदर्शन के लिए नहीं अपनाया है। यौवन-सम्पन्न उरोजो की उपमा वसन्त के पुष्पित फूलों के स्तवक से देना एक प्रकार का अलंकरण ही कहा जायेगा, किन्तु यह अलंकरण रूप-चित्रण में बाधक नहीं है, बल्कि उसे और भी अधिक उद्भासित करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। पुष्पदंत ने नारी सौन्दर्य का जो चित्रण किया है वह अभूतपूर्व है। पुष्पदंत के चित्रण शुक्ल जी द्वारा प्रतिष्ठापित मानदण्ड के अनुकूल हैं, उन्होंने न केवल दो नारियों के रूप में अन्तर को स्पष्ट अंकित किया है; बल्कि भिन्न-भिन्न प्रदेशों की नारियों के रूप, स्वभाव तथा व्यवहारों का ऐसा सूक्ष्म वर्णन किया है जैसा पूर्ववर्ती काव्यों में कम मिलेगा। हिन्दी काव्यधारा के पृष्ठ २०० पर दिये गये पद्यांश में नारी-सौन्दर्य का चित्रण देखा जा सकता है। हेमचन्द्र-संकलित अपभ्रंश दोहों में भी इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं। स्फुट मुक्तक होने के कारण इनमें सर्वांगीणता नहीं दिखाई

---

१. देखिए शुक्ल जी का 'तुलसीदास की भावुकता' शीर्षक निबन्ध।

पड़ती, किन्तु सूक्ष्मता का स्पर्श तो है ही। जैसे नेत्रों के वर्णन देखिए :

जिवं जिवं वंकिअ लोअणहु णिरु सामलि सिक्खेइ
तिवं तिवं बम्महु निअय सर खर पत्थर तिक्खेइ

ज्यों-ज्यों गोरी अपनी बाँकी आँखों को भंगिमा सिखाती है, वैसे ही वैसे मानों कामदेव अपने वाणों को पत्थर पर तीखा करता जाता है।

नखशिख वर्णन का और अधिक प्राधान्य परवर्ती रचनाओं में दिखाई पड़ता है। प्राकृतपैंगलम् की ब्रजभाषा-रचनाओं से ऐसे वर्णन विरल नहीं हैं जो किसी काव्य के नखशिख-चित्रण के प्रसंग से छाँटे गए ह।

रासो काव्यों में वर्णित नखशिख शैली का भी प्रभाव सूर आदि पर कम न पड़ा। 'सन्देश रासक' में नायिका के रूप का चित्रण रूढ़ शैली का ही है, किन्तु उसमें उपमानों के चयन में कवि की अन्तर्दृष्टि और सूझ का पता चलता है। पथिक से अपने विदेशस्थित पति को सन्देश भेजते समय उसके रूप की क्षण-क्षण परिवर्तित दशा का कवि ने स्थान-स्थान पर बड़ा मार्मिक चित्रण किया है :

छायंती कह कहव सलज्जिर णिय करहीं
कणक कलस झंपंती णं इन्दीवरहीं
तो आसन्न पहुत्त सगग्गिर गिरवयनी
कियउ सद्द सविलासु करुण दीहर नयनी

(संदेश रासक, २९)

इस विवरण को थोड़ा विस्तार से देना आवश्यक हो गया था; क्योंकि लोग प्रायः ऐसा समझते हैं कि भक्ति काव्यों में शृंगार का कोई स्थान नहीं। जो लोग भक्ति और शृंगार का इतना बड़ा विभेद लेकर विद्यापति के काव्य का अध्ययन करते हैं, उन्हें वे घोर शृंगारिक प्रतीत हो सकते हैं, और वे हैं भी; किन्तु शृंगारिक होने के कारण ही उनकी कविताओं में भक्ति भाव का अभाव नहीं प्रमाणित होता। दूसरा प्रश्न है नखशिख वर्णन का। नखशिख वर्णन का उपर्युक्त विवेचन क्या इस बात का प्रमाण नहीं है कि यह परिपाटी मध्यकालीन काव्य की सर्वमान्य और सर्वत्रगृहीत

प्रणाली है। इसके प्रभाव से संस्कृत, प्राकृत और भाषा का कोई कवि नहीं बचा। यहाँ तक कि शम और विराग जिन कवियों का उद्देश्य रहा है, वे भी नखशिख सौन्दर्य का वर्णन परम्परा-विहित परिपाटी के अन्दर ही करते थे। जैन कवियों तक ने नखशिख वर्णन को इसी ढंग से अपनाया। विद्यापति के नखशिख वर्णनों पर कामशास्त्र, सामुद्रिक आदि का भी प्रभाव कम न पड़ा। वैसे सम्पूर्ण नखशिख-वर्णन की पूरी परिपाटी चाहे वह जैन, बौद्ध या हिन्दू किसी भी कवि द्वारा अपनाई गई हो, कामशास्त्र और सामुद्रिक शास्त्र के नारी लक्षणों से बहुत प्रभावित रही है। विद्यापति ने यदि इस परम्परा को अपनाया तो यह कोई अपराध नहीं है। और न तो इसके आधार पर उन्हें शृंगारिक कह कर टाला ही जा सकता है। नख-शिख वर्णन कदर्थना की वस्तु नहीं है, बुरी है नखशिख वर्णन की निरुद्देश्य या रूपलोभपूर्ण आसक्ति।

राधा : पार्थिव प्रतिमा पराशक्ति के रूप में

मध्यकालीन साहित्य को यदि किसी एक शब्द में अभिव्यक्त करना हो तो निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि वह शब्द है राधा। राधा मध्यकालीन साहित्य की प्रेरणाशक्ति है, अधिष्ठात्री है और साथ ही वह नारी की एक ऐसी मांसल मूर्ति है जिसके शरीर के हर अणु में कच्ची मिट्टी की गन्ध है और आत्मा के प्रत्येक चेतन-परमाणु में दिव्य-प्रेम की अलौकिक छटा है। छठवीं शताब्दी से १७वीं तक का सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय इस अनुपम नारी-रत्न की छायाव्यतिकर-सौन्दर्य-सृष्टि से अनुप्राणित हुआ है।

राधा शब्द का सबसे पहला प्रयोग कब हुआ, यह प्रश्न प्रायः साहित्य के जिज्ञासु अनुसंधायकों के चित्त को उद्वेलित करता रहा है। राधा किसी नारी का नाम नहीं है, यह नारी-जीवन की सम्पूर्ण गरिमा, तेजोद्दीपता, समर्पण, प्रेम की अनन्यता तथा सम्पूर्ण सौन्दर्य, शील और प्रज्ञा के घन-विग्रह का अभिधान है। राधा भारतीय प्रेम-साधना की परिणति का नाम है। इस साधना का आरम्भ वैदिक साहित्य में ही दिखाई पड़ने लगता है जब ऋषि ने प्रकृति को आद्याशक्ति के रूप में अपनी प्रथम श्रद्धांजलि अर्पित की। अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में शक्ति के पृथ्वीरूप की जो वन्दना है वह विश्वजननी पृथ्वी के प्रति मनुष्य की प्रणति का प्रथम उच्छ्वास नहीं तो क्या है? डॉ० शशिभूषणदास गुप्त ने श्रीराधा का क्रम विकास स्पष्ट करते हुए बताया है कि 'वेद में वर्णित पृथ्वी की इस देवीमूर्ति के साथ परवर्ती काल की विष्णु की भू-शक्ति की योजना स्मरण की जाती है। श्रुतियों में हमें शक्ति का लक्षणीय उल्लेख मिलता है। केनोपनिशद् में जहाँ ब्रह्मशक्ति ही असल शक्ति है—वह शक्ति जो अग्नि, वायु, इन्द्र

आदि सभी देवताओं के अन्दर क्रियमाण है—देवताओं को सही तत्त्व दिखाने के लिए साक्षात् ब्रह्मविद्या बहुशोभमाना हैमवती उमा के रूप में आकाश में आर्विभूता हुई।'[1]

उपनिषदों में शक्ति के रूप और सौन्दर्य को स्पष्ट करने वाले बहुत से प्रसंग दिखाई पड़ते हैं, जिसमें शक्ति अजा, लोहित शुक्ल कृष्णवर्णा, आत्मानुरूपा, बहुप्रजा आदि रूपों में अभिनन्दित की गई है।[2] आद्या शक्ति या देवी का सबसे पूर्ण या महिमामण्डित रूप मार्कण्डेयपुराण में दिखाई पड़ता है। इस चित्रण में सौन्दर्य, शील और शक्ति तीनों का ही चरम उत्कर्ष एकत्र सन्निहित होकर उपस्थित हुआ है। देवी यहाँ न केवल शुभ्र प्रज्ञारूप और दिव्य है; बल्कि वह मंगल सौन्दर्य, राजस् गणों से युक्त है। हाव-भाव तथा अन्य नारी सुलभ प्रक्षोभक अलंकरणों से सज्जित भी है। देवी-सौन्दर्य के चित्रण में कामशास्त्रीय लक्षण देखे जा सकते हैं, वह पराशक्ति के रूप में सहस्रां उदीयमान सूर्यों की कान्ति को धारण करनेवाली, लाल रेशमी वस्त्र में आवृत, लाल चन्दन से लिप्त पयोधरों वाली, कमल के समान नेत्रों की कांति को धारण करने वाली है :

> ॐ उद्यद्भानसहस्रकान्तिमरुणक्षौमां शिरोमालिकां
> रक्तालिप्तपयोधरां जपवटीं विद्यामभीतिं वरम्
> हस्ताब्जैर्दधतीं त्रिनेत्रविलसद्वक्त्रारविन्दश्रियम्
> देवीं बद्धहिमांशुरत्नमुकुटां वन्देऽरविन्दस्थिताम्

साथ ही मातंगी के रूप में वही देवी श्यामल अंगों पर रक्त, वस्त्र और अरुण कंचुकी धारण करने वाली, मुकुलित कमल की माला पहने हुई रत्नपीठ पर बैठी हुई पिंजर बद्ध शुक के मीठे शब्दों को सुनती हुई, वीणा-वादन करती हुई, हाथ के शंख पात्र में आसव लिए हुए अलस नेत्रों वाली भी दिखाई पड़ती है :

---

१. श्री राधा का क्रम-विकास, हिन्दी संस्करण, १९५६ ईस्वी, पृ० १०।
२. श्वेताश्वेतरोपनिषद्, ४।४।

ॐ ध्यायेयं रत्नपीठे शुककलपठितं शृण्वतीं श्यामलांगीं
न्यस्तैकाङ्घ्रिं सरोजे शशिशकलधरां वल्लकीं वादयन्तीम्
कल्हाराबद्धमालां नियमितविलसच्चोलिकां रक्तवस्त्रां
मातंगी शंखपात्रां मधुरमधुमदां चित्रकोद्भासिभालाम्

शक्ति के उपर्युक्त दोनों रूपों को देखने से भलीभाँति प्रकट हो जाता है कि अत्यन्त प्राचीनकाल से श्री-शोभा वर्णन के प्रसंग में देवी-रूप के दोनों पक्षों का समवेत चित्रण होता रहा है। मांसल-सौंदर्य और अलस नेत्रों की कान्ति का वर्णन ही नहीं, देवी को 'शंखपात्रा' और 'शुककलपठितं शृण्वती' भी कहा गया है। ये अभिप्राय या अलंकरण की रूढ़ियाँ मध्यकालीन काव्य में नायिका के वर्णन में बहुत बार प्रयुक्त हुई हैं।

डॉ० दासगुप्त का यह निष्कर्ष उचित है कि 'तंत्र पुराणादि या शैव-दर्शन में जहाँ शक्ति तत्व का विवेचन भलीभाँति प्रारम्भ हुआ है, वहाँ देखते हैं कि शक्तिवाद ने वैष्णवधर्म और दर्शन में भी घुसना शुरू किया है और हमारा विश्वास है कि वैष्णवधर्म और दर्शन में घुसा हुआ यह शक्तिवाद ही परवर्ती काल में पूर्ण विकसित राधावाद में परिणत हुआ।'[1]

श्रीमद्भागवत कृष्णचरित्र का कोश-ग्रंथ है और साथ ही परवर्ती कृष्णलीला सम्बन्धी कविताओं का उपजीव्य-स्त्रोत; किन्तु राधा कृष्ण-प्रिया के रूप में इस ग्रंथ में भी दिखाई नहीं पड़ती। गोपियों का वर्णन है, रास के अत्यन्त मादक रूप का बहुत ही सूक्ष्म चित्रण हुआ है, किन्तु कृष्ण की अनन्य प्रिया के रूप में यहाँ कहीं भी राधा दिखाई नहीं पड़ती। भागवत में रास क्रीड़ा के प्रसंग में एक स्थान पर यह वर्णन अवश्य आता है कि कृष्ण अपनी प्रियतमा गोपी को लेकर अन्तर्धान हो गए, तदनन्तर उनके वियोग में व्याकुलिता गोपियों ने उस सौभाग्यवती गोपी को लक्ष्य करके किंचित ईर्ष्यावश कहा था :

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः

(१०।२०।२४)

---

१. राधा का क्रम-विकास, पृष्ठ १३।

अर्थात् इसी ने भगवान् हरि की सही आराधना की है। क्योंकि हमें छोड़ कर गोविन्द इसी के प्रेम में पगे हुए हैं। 'अनयाराधितः' शब्द को लेकर विद्वानों ने राधा नाम के संधान का प्रयास किया और बताया कि 'आराधना' से ही राधा-नाम का अविर्भाव हुआ। परवर्ती पुराणों में राधा का नाम अवश्य आता है। पद्मपुराण, मत्स्यपुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण आदि में राधा के विषय मे उल्लेख प्राप्त होते हैं। गौड़ीय वैष्णव आचार्य रूपगोस्वामी ने अपने ग्रंथ 'उज्ज्वल नीलमणि' में राधा प्रकरण के अन्तर्गत यह बतलाया है कि गोपालोत्तरतापनी में राधा गांधर्वी नाम से प्रसिद्ध हैं तथा ऋक्परिशिष्ट में राधा माधव के साथ उदित हैं।[१]

गोपालोत्तरतापन्यां यद् गान्धर्वीति विश्रुता
राधेत्यृक्परिशिष्टे च माधवेन सहोदिता

राधाविषयक अन्य प्राचीन उल्लेखों का सन्धान करते हुए डॉ० शशिभूषणदास गुप्त ने दक्षिण के वैष्णव भक्त आलवारों के भजनों में आने वाली नायिका 'नाप्पिन्नाइ' पर भी विचार किया है। नाप्पिन्नाइ एक फूल का नाम है। नाप्पिन्नाइ को कृष्ण की प्रियतमा और लक्ष्मी का अवतार बताया गया है। 'नाप्पिन्नाइ राधा की तरह ही गजगामिनी है, गौरी है, सौन्दर्य की प्रतिमा है। नाप्पिन्नाइ ही गोपियों में प्रधान और कृष्ण की प्रियतमा है। इस पौराणिक कल्पना को इन्होंने (आलवारों ने) स्थानीय उपाख्यानों में मिलाकर थोड़ा बहुत बदल दिया।'[१] आलवार भक्तों के तिथिकाल के विषय में काफी विवाद है, फिर भी इतना तो माना ही जाता है कि इनका आविर्भाव पाँचवी शताब्दी से नवीं के बीच में हुआ था।[२] इस दृष्टि से नाप्पिन्नाइ के रूप में कृष्ण की एक प्रियतमा गोपी का विवरण और वह भी राधा से मिलता-जुलता, काफी महत्त्व का है; इसमें सन्देह नहीं।

गाथा-सप्तशती मध्यकाल की स्वच्छन्द प्रेमविषयक कविताओं का रत्न-कोश है। कहते हैं एक बार सरस्वती की कृपा से राजा हाल के

१. श्रीराधा का क्रम-विकास, पृ० ११६।
२. गोविन्दाचार्य कृत : डिवाइन विजिडम ऑव द्रविड सेन्ट्स।

सभी नागरिक एक दिन के लिए कवि हो गए और इन अनगिनत लोगों के कण्ठ से अजस्र धारा की तरह कविता फूट पड़ी। इसमें से सर्वोत्तम चुनकर राजा हाल ने गाथा-सप्तशती का निर्माण किया। कादम्बरीकार बाणभट्ट ने इस जनश्रुति की ओर संकेत किया है। गाथा-सप्तशती में बहुत से ऐसे पद हैं जिनमें शृंगार, रति तथा प्रकृति (खास तौर से उद्दीपन के रूप में) के मनोरम चित्र भरे पड़े हैं। मैंने पीछे इस प्रकार के कुछ पद्यों के तुलनात्मक प्रसंग और उनका सूर और विद्यापति के पदों पर प्रभाव दिखाया है। इनमें से कुछ पद्य कृष्ण और राधा के प्रेम-विषयक भी प्रतीत होते हैं एक गाथा में तो राधा शब्द का स्पष्ट प्रयोग भी हुआ है। कोई गोपवाल कहता है कि हे कृष्ण तुम अपने मुख-मारुत से राधा के मुँह पर लगे हुए गोरज का अपनयन करके इन वल्लभियों के तथा अन्यों के गौरव का अपहरण कर रहे हो :

मुहमारुहेण तं कण्ह गोरअं राहिआएं अवणेन्तो
एताणं वलवीणं अण्णाणं वि गोरअं हरसि

यहाँ 'गोरअं' में यमक के आधार पर अच्छा चमत्कार भी प्रस्तुत हो जाता है। गोरअं का एक अर्थ गोरज और दूसरा गौरव है।

प्राकृत-अपभ्रंश काव्य में आने वाले राधासम्बन्धी अन्य प्रसंगों पर पीछे विचार किया जा चुका है। पुष्पदन्त के उत्तरपुराण का रास प्रसंग प्राकृतपैंगलम् की नौका लीला का दोहा, हेम प्राकृत-व्याकरण के राधा-सम्बन्धी दोहों पर हम पीछे लिख चुके हैं (दे० भक्ति काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि)।

राधा के विषय में भट्टनारायण के वेणीसंहार, त्रिविक्रम भट्ट के नलचम्पू, माघकृत शिशुपाल वध, सोमदेव के यशस्तिलक चम्पू तथा कतिपय अन्य काव्य ग्रंथों में प्रसंगोनुकूल चर्चाएँ दिखाई पड़ती हैं। राधाकृष्ण प्रेम का सर्वाधिक मृदुल और मादक वर्णन जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में प्रस्तुत किया। जयदेव के गीतगोविन्द में पहली बार एक सामान्य मानवी अपने सम्पूर्ण मांसल पार्थिव शरीर-सौन्दर्य-संभार के साथ भगवान्

की प्रियतमा के रूप में दैवी शक्ति का आधार-स्थल बनकर आई। जयदेव ने 'हरिस्मरण' और 'कामकला कुतूहल' को एकत्र समन्वित कर दिया। ऐसा नहीं कि जयदेव के पहले इस प्रकार का प्रयत्न नहीं हुआ था। भक्ति काव्य को सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के पुनर्परीक्षण के सिलसिले में मैंने बार-बार निवेदन किया है कि भक्त कवियों को काव्य की जो परम्परा मिली उसमें भक्ति और रति का ऐसा पार्थक्य नहीं था। प्राकृत और अपभ्रंश के अनायुष्मिकता-परक प्रेम-काव्य जो जन-चित्त को पूर्णतः अभिभूत किये हुए थे, भक्त कवियों के लिए भी माध्यम थे उन्होंने उसी प्रेम काव्य के माध्यम को अपनाया। जड़ोन्मुख प्रेम को चिदोन्मुख बनाने के संकल्प के साथ ही उनका यह कर्त्तव्य था कि ये मांसल सांसारिक प्रेम को एक दिव्यता प्रदान करें। जयदेव ने यह कार्य सम्पन्न किया। वैसे उनके काव्य में भौतिक प्रेम का स्वर ही ज्यादा मुखर दिखाई पड़ता है।

जयदेव की राधा सांसारिक मानवी की तरह ही प्रेम-विह्वला, मानिनी, प्रेमिका, केलि और रति-सुख की विदग्धा तथा अपने प्रियतम के गले में कंठहार की तरह निरन्तर आलिंगन में सुख मानने वाली बालिका हैं। कन्दर्प-ज्वर से पीड़ित क्षणिक विरह में भी जल-विहीन मीन की तरह तड़फड़ाने वाली राधिका सखी के मुख से कृष्ण और अन्य 'गोपियों की रतिक्रीड़ाओं का वर्णन सुनकर ईर्ष्या से कातर हो उठती है। सखी इस संताप में और वृद्धि करती हुई जब प्रकृति के उस रूप की चर्चा करती है जो अपने वासंती उद्दाम सौन्दर्य से युवतियों के हृदय को पीड़ा से मथ देता है, तो एक क्षण के लिए राधा का चित्त चंचल हो उठता है। वह लाल किंशुक फूलों को जो युवक-युवतियों के हृदय को विदीर्ण करने वाले कामदेव के रक्त लिप्त नख की तरह दिखाई पड़ते हैं तथा नागकेसर के श्वेतपटल को जो मदन महीपति के कनक-दंड की छवि धारण किये हुए हैं, देखती रह जाती है :

मृदमदसौरभरभस - वशंवदनवदलमालतमाले

युवजनहृदय-विदारण - मनसिजनखरुचि-किंशुकजाले

मदनमहीपति कनकदंड-रुचि केसर-कुसुम-विकासे
मिलित - शिलीमुख - पाटलपटलकृतस्मरतूणविलासे

वह अभिसार-पराभव के इस दुःख को संभाल नहीं पाती और उलटे पैरों वापिस लौट जाती है, किन्तु कृष्ण की भुवनमोहिनी छवि को वह कैसे भुला दे? वह अपने प्रेम-कातर मन से कृष्ण के चन्द्राकार मयूरपक्ष, चंचल नेत्र, कपोलों पर आन्दोलित कर्णावसंत तथा इन्द्रधनु-अनुरंजित सान्द्र मेघ के सदृश उस रूप को कैसे अलग कर दे? वह बार-बार अपने हृदय को समझाती है। क्या हुआ यदि कृष्ण बहु वल्लभ हैं? क्या हुआ यदि वे हमारे प्रेम की चिन्ता नहीं करते? 'यही राधिका के हृदय की दुर्बलता है। इस दुर्बलता के कारण ही उसका प्रेम इतना वेगवान् हो सका है। इसी कातरता की आँच में तप कर वह सोना निखर पड़ा।'[1] राधा के इस विरह दुःख का हाल गोपी कृष्ण को सुनाती है। वह साफ कहती है कि माधव आपकी प्राप्ति दुर्लभ है फिर भी वह आप को कल्पना करके विलाप करती है, हँसती है, विचार करती है—जैसे आप उसकी आँखों के सामने खड़े हों। वह आप के ध्यान में लय हो चुकी है। वह तो आपके चरणों में पड़ी हुई यह सोचती है कि आपके बिना सुधावर्षीय चन्द्र भी उसके शरीर मे दाह उत्पन्न करता है :

ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमतीव दुरापम्
विलपति हसति विषीदति रोदिति चंचति मोचति तापम्
प्रतिपदमिदमपि निगदति माधव तव चरणे पतिताहम्
त्वयि विमुखे मयि सपदि सुधानिधिरपि तनुते तनुदाहम्

जयदेव कवि ने राधा की इस विरह व्यथा का अत्यन्त व्यापक चित्रण किया है। इस चित्रण में प्रायः प्रकृति के सभी सौंदर्योत्पादक तथा मनोरम दृश्य उद्दीपन की तरह प्रस्तुत किये गये हैं। राधा एक सामान्य मानवी की तरह अपनी सम्भोगेच्छा के वेग को रोक नहीं पाती—और पूर्व-सम्मिलन के क्षणों को सोच-सोचकर आसूँ गारती रहती है। उसको यह सहज

---

१. मध्यकालीन धर्मसाधना, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १५१।

मानव-धर्मिता ही उसके चित्त की पीड़ा को गाढ़ रूप में प्रकट कर सकी है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'जयदेव की विलासिनी राधा और कितव कृष्ण की विलास-कला वस्तुतः आधी भी नहीं रहेगी यदि राधिका को एकान्त प्रेम-निर्भर भक्त के रूप में न देखा जाय। भगवान की प्राप्ति के लिए जयदेव की राधा इतनी व्याकुल हैं कि वे सभी कारण जो सांसारिक रमणियों की विरक्ति के साधन हैं, उन्हें (राधा को) प्रेम के मार्ग से विचलित नहीं कर सकते। क्षण भर के विलम्ब में भी जो चित्त उत्कंठार्ति के बोझ से फट पड़ता है उसको सुदूर प्रवास के वियोग की अवस्था कल्पना से भी परे है। इसीलिए कहते हैं कि इस मृणालतन्तु को जयदेव ने प्रखर ग्रीष्म के ताप में रखकर अच्छा ही किया - अच्छा ही किया।'

राधा की यह मूर्ति जो वेदकाल के पृथ्वीरूप से प्रस्फुटित होकर नाना पुराणों के देवी रूप, लक्ष्मी श्री रूप तथा तन्त्रों में वर्णित देवी रूपों से पुष्ट होती हुई मध्यकालीन प्रेमप्रधान काव्यों में प्राणप्रतिष्ठा प्राप्त करके जयदेव के काव्य को राधा के रूप में उपस्थित हुई—विद्यापति को इसी प्रकार प्राप्त हुई जैसे किसी परिवार के व्यक्ति को पूर्वजों की सम्पत्ति अपनी सम्पूर्ण गरिमा, अन्धविश्वास, गन्दगी, शुभ्रता के समवेत गुण-दोषों के साथ प्राप्त होती है। विद्यापति ने राधा की इस प्रतिमा को अपने तरह से देखा, सोचा, समझा और उन्होंने अपनी सम्पूर्ण साधना और शक्ति के संयोग से इसे अभिनव रूप प्रदान किया।

विद्यापति की राधा

विद्यापति की राधा के रूप, चरित्र और शील में कुछ ऐसा है जो केवल विद्यापति ही प्रस्तुत कर सकते थे। राधा उनके सम्पूर्ण मानस-सौन्दर्य का घन-विग्रह है, इस मूर्ति के निर्माण में कवि ने अपना सारा निजत्व, हृदय का सम्पूर्ण भाव-संभार अर्पित कर दिया है।

बालिका के रूप में राधा के चित्त का प्रस्फुटन कवि के लिए आकर्षण की वस्तु नहीं। विद्यापति की राधिका के जीवन का प्रथम क्षण उस समय

आरम्भ हुआ जब कृष्ण ने एक ऐसी अपरूप बालिका देखी जो यौवन के आकस्मिक आगमन पर कुतूहलचकित होकर अपने अंगों का उभार देखते हुए विविध प्रकार के आनन्द में विभोर हो जाती है :

सैसव जौवन दुहु मिलि गेल
स्रवन क पथ दुहु लोचन लेल
निरजन उरज हेरइ कत वेरि
हंसइ जे अपन पयोधर हेरि

यौवन की बालसुलभ अल्हड़ चेष्टायें ठिठक कर रह गईं, हंसने, चलने, बोलने और साधारण व्यवहार में भी भिन्नता आ गई :

प्रकट हास अब गोपित भेल
वरण प्रकट फिर उन्हके नेल
चरन चपल गति लोचन पाव
लोचन क धीरज पद तले जाव
नव कवि सेखर कि कहित पार
भिन भिन राज भिन वेवहार

यौवन का यह प्रथम चरण-निक्षेप बाला के चित्त को एक विचित्र भावभंगी से भर देता है। क्षण-क्षण पर नेत्र चक्षु-कोरक का अनुसरण करते हैं। क्षण-क्षण पर असंयत वस्त्र धूल में लोटकर शरीर को धूलि-धूसरित कर देते हैं। क्षण-क्षण उसके मधुर हास से दाँतों की धवल पंक्तियाँ चमक उठती हैं। क्षण-क्षण लज्जा के कारण वह होठों पर वस्त्र रख लेती है। क्षण-क्षण चौंककर धीरे-धीरे चलने लगती है। हृदय के मुकुल को देखकर उन पर लज्जा से वस्त्र डालती है, कभी वस्त्र डालना भूल जाती है। उसके शरीर में शैशव और यौवन दोनों एकत्र मिल गए हैं, कौन कम है कौन अधिक, यह निर्णय करना भी कठिन हो जाता है :

खने खने नयन कोन अनुसरई
खने खने वसन धूलि तनु भरई

खने खने दसन छटा छुट हास
खने खने अधर आगे गहु वास
चउंकि चले खने खने चले मन्दु
मन्मथ पाठ पहिल अनुबन्ध
हिरदय मुकुल हेरि हेरि थोर
खने आंचर देइ खने होए मोर
बाला सैसव तारुन भेंट
लखए न पारिय जेठ कनेठ

इन्हीं दिनों जब राधा अपने यौवन के दुरतिक्रम बोझ को सँभालने में असमर्थ ब्रज की खोरियों में घूम रही थी, कि अचानक कृष्ण पर दृष्टि पड़ गई। राधा और कृष्ण का यह प्रथम मिलन कवि की अनुपम निधि है। दो तरुण हृदयों के इस मिलन पर दोनों के हृदय के मन्थन, कुतूहल, रूपासक्ति और प्रेम-विह्वलता का विद्यापति ने अत्यन्त विशद चित्रण किया है।

राधा के रूप को कृष्ण विजड़ित-चित्त से देखते रह गए, किन्तु एक क्षण का यह मिलन पीड़ा का नया संसार दे गया। मेघमाला की सान्द्र नीलिमा में जैसे तड़ित-लता एक क्षण के लिए झिलमिलाकर छिप जाए, राधा के रूप की वह झलक हृदय को बर्छी की तरह चीरती चली गई। वे उसे अच्छी तरह देख भी न सके।

सजनी भल कए पेखल न भेलि
मेघमाल सयँ तड़ित लता जनि
हिरदय सेल दई गेलि

चंचल पवन के झकोरे से वस्त्र गिर गया। अचानक राधा की सुचिक्कण देह-यष्टि दिखाई पड़ गयी। केशपाश से घिरी हुई वह देह-यष्टि जैसे नये श्याम जलधर के नीचे बिजली की रेखा चल रही है। धनि के इस गगन को देख कर मेरा चित्त प्रेम-रङ्ग में डूब गया—लगा कि जैसे सोने की लता निरवलम्ब भाव से पृथ्वी पर विचरण कर रही है :

ससन परसु खसु अम्बर रे
देखल धनि देह

नव जलधर तर संचर रे
जनि विजुरि रेह
आज देखलि धनि जाइति रे
मोहि उपजल रंग
कनक लता जनि संचर रे
महि निर अवलम्ब

राधा रूप की पराकाष्ठा है। उसका सब कुछ मधुर है। मधुर रस की अधिष्ठात्री देवी की तरह भक्तों के चित्त को उद्वेलित करने वाली राधा की यह मूर्ति कृष्ण के चित्त को प्रेम-वैचित्य के नाना भावों से मथ देती है। राधा ने कृष्ण को सामने खड़ा देख सिर झुकाकर मुँह फेर लिया। उनके मन में यह सौन्दर्य-मूर्ति ऐसी अड़ गई है कि :

मन मोर चंचल लोचन विकल भेल
ओनहिं अनइत जाई
आड़ वदन कए मधुर हास दए
सुन्दरि रहु सिर नाई

ऐन्द्रजालिक के कुसुम शायक की तरह मायाविनी की वह छवि भुलाये नहीं भूलती। उसके चरणों का जावक मेरे मन को पावक की तरह दग्ध कर रहा है :

गेलि कामिनि गजहु गामिनि, विहसि पलटि निहारि
इन्द्रजालक कुसुम सायक, कुहुकि भेल वर नारि
पुनहि दरसन जीव जुडाएव, टूटल विहरक ओर
चरन जावक हृदय पावक, दहत सब अँग मोर

कृष्ण की अनुपम छवि को देखकर राधा भी कुछ कम आकृष्ट न हुई। उसे तो सब कुछ जैसे स्वप्नवत मालूम हो रहा था। वह अपनी सखि से जब कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन करने लगी तो उसे विश्वास भी नहीं हुआ कि ऐसा रूप कहीं सम्भव भी हो सकता है :

ए सखि पेखलि एक अपरूप
सुनइति मानब सपन सरूप

उस अपूर्व सौन्दर्य को एक निमिष तक ही तो वह देख सकी थी। किन्तु वह एक क्षण का दर्शन-सुख उसके मन-मृग के मर्म को क्रूर व्याध के विषम शर की तरह वेध गया। कदम्ब वृक्षों से आच्छादित यमुना के तट पर घनमाला की तरह सुन्दर उस रूप को देखने के लिए वह व्याकुल हो उठी। किन्तु लाज के मारे पूरा देख भी न सकी, उलट-उलट कर देखते समय गिर पड़ी, पैर काँटों से लहू-लहान हो गये :

> कि लगि कौतुक देखलौं सखि निमिष लोचन आध
> मोर मन मृग मरम बेधल विषम बान बेआध
> तीर तरंगिनि कदम्ब कानन निकट जमुना घाट
> उलटि हेरइत उलट परलौं चरन चीरल काँट

अपनी प्रेमदशा की इतनी सरल और मासूमियतभरी व्यंजना शायद ही कोई कर पाये। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सूर की बालिका राधा की सहज स्वाभाविकता और भोलेपन की प्रशंसा करते हुए कहा है कि 'वास्तव में सूरदास की राधिका शुरू से आखिर तक सरल बालिका है। उसके प्रेम में चण्डीदास की राधा की तरह पद-पद पर सास-ननद का डर भी नहीं है और विद्यापति की किशोरी राधिका की भाँति हास में रुदन और रुदन में हास की चातुरी भी नहीं है।'[1] किन्तु ऊपर के पद से विद्यापति की राधा के सरल चित्त के जिस भाव की व्यंजना होती है, उसमें पीड़ा की स्वीकृति और अपनी विडम्बना की विवृत्ति ही ज्यादा है, कुछ चातुरी नहीं। वह अपनी अल्हड़ता में भी उस क्षणिक मिलन के बाद कितनी व्याकुल और गम्भीर है। उलट-उलट कर पीछे देखते समय उसके पैर काँटों से छिल गए इस भाव को बिना संकोच के वह व्यक्त कर देती है। रही चातुरी सो तो सूरदास की राधा में भी कम नहीं हैं, बल्कि सखियों को बार-बार धोखा देकर कृष्ण को सम्पूर्ण अपना बना लेने की चालबाजियाँ वहाँ कहीं ज्यादा मात्रा में दिखाई देती हैं। कृष्ण मिलन के अवसर पर हार गिर जाने पर अपनी माँ से जितनी चातुरी-पूर्ण बातें सूर की राधा ने कीं, उतनी औरों को आती भी

---

१. मध्यकालीन धर्म-साधना, पृ० १६४।

नहीं होंगी। और फिर ऐतिहासिक दृष्टि से भी देखें तो सूरदास की राधा विद्यापति की राधा से कहीं अधिक विदग्ध होनी चाहिए।

प्रथम मिलन का यह अनुराग क्षणिक विरह की अवस्था को भी सँभाल नहीं पाता। राधा एक ओर भारतीय गृहस्थ कन्या की तरह पारिवारिक मर्यादा की सीमाओं मे अपने को बाँधती है, दूसरी ओर मुरली को मादक संकेत-सूचक ध्वनि उसके चित्त को व्याकुल कर देती है। इस विचित्र दुःख का कहीं अन्त नहीं वंशी के उच्छ्वास विष की तरह प्राणों को अचेत बना देते हैं। आँखें चाहकर भी कृष्ण को नहीं देखतीं, कहीं और देखना पड़ता है वह घर में भी धीरे पैरों से चलती है, बार-बार भगवान् से प्रार्थना करती है कि उसकी लज्जा की रक्षा करें :

कि कहब हे सखि इह दुख ओर
वाँसि निसास गरल तनु भोर
विपुल पुलक परिपूरए देह
नयन न हेरि हेरए जनु केह
लहु लहु चरण चलिए गृह माझ
आज दइव विहि राखल लाज

रूपासक्ति से उत्पन्न यह आकर्षण निरन्तर सहवास सुख के लिए बेचैन करने लगा। प्रिय के पास रहने, उसको बातें सुनने तथा उसके प्रत्येक आचार-व्यवहार पर दृष्टि रखने की आकांक्षा अछोर रूप लेने लगी। राधा पारिवारिक मर्यादा की चहारदीवारी के भीतर अपनी बेबसी पर आठ-आठ आँसू बहाती। छल से भी कृष्ण को एक बार और देखने की साध से वह चंचल हो उठी। क्षणिक विरह की इस अपार पीड़ा में वह मदन को संबोधित करके कहती है कि रास्ते मे आते-जाते ऐसा कौन नहीं है जो कृष्ण को नहीं देखता; पर हमारा एक बार का देखना ही इतना बड़ा अपराध हो गया कि तू अपने कठोर पंचबाण से हमे निरन्तर घायल कर रहा है :

पुर बाहर पथ करत गतागत
के नहिं हेरत कान
तोहर कुसुम सर कतहुँ न संचर
हमर हृदय पँच बान

और तब शुरू होता है दोनों तरफ से दूतियों का आगमन। दूती कामशास्त्र में कन्या-विश्रंभण व्यापार में सहायता देने वाली बताई गई है। जयदेव या विद्यापति दोनों ने ही दूती को इसी रूप में ग्रहण किया है। ग्रियर्सन या कुमारस्वामी जैसे लोग दूती को गुरु या उपदेशक के रूप में मानते हैं। क्योंकि उनकी दृष्टि से दूती दोनों प्रेमियों को जो ईश्वर और आत्मा के रूप में हैं, मिलाने के लिए सचेष्ट है। किन्तु दूती का प्रतीक बहुत स्पष्ट नहीं है। मैंने पहले ही निवेदन किया है कि रहस्यवादी साधना का प्रभाव विद्यापति पर नहीं था।

दूतियाँ राधा और कृष्ण दोनों की वैचित्यावस्था का दारुण वर्णन एक दूसरे को सुनाती हैं। एक तरफ राधा के अभाव में कृष्ण कालिन्दी के किनारे धूल में गिरे पड़े हैं। भुजंगिनि के दंश से पीड़ित अचेत कृष्ण तब तक होश में नहीं आ सकते जब तक दूसरे दंश की लहर उस विष को दूर नहीं कर देती। विरह-पीड़ा को नागिन के दंश की तरह बताना काफी महत्वपूर्ण है। परवर्ती काल में भक्त के मन में उठने वाली विरह-पीर की तुलना कई स्थानों पर नागिनि-दंश से की गई है :

जब धरि चकित विलोकि विपिन तह
पलटि आओल मुख मोर
तब धरि मदनमोहन तरु कानन
लुटइ धीरज पुनि छोरि
फुनु फिरि सोई नयन जदि हेरबि
पाओब चेतन नाह
भुजंगिनि दंसि पुनहि जदि दंसए
तबहि समय विस जाह

दूसरी तरफ राधा कृष्ण की याद करके रात-दिन रोती रहती है। वह रात-दिन जागकर कृष्ण का ही नाम जपा करती है। अर्ध रात्रि के समय विगलित-लज्जा राधा रोने लगती है। सखियाँ ज्यों-ज्यों उसे प्रबोधित करती हैं विरह का ताप उतना ही असीम होकर हृदय को पीड़ित करता है :

निस दिन जागि जपय तुअ नाम
थर थर काँपि पड़ए सोइ ठाम

जामिनि आध अधिक जब होइ
विगलित लाज उठए तब रोइ
सखि जन जत परबोधय जाय
तापिनि ताप ततहिं तत ताय

स्वप्न में भी राधा कृष्ण को नहीं भूलती। प्रीति के अथाह जोर से उसका चित्त जर्जर हो गया। सखियों के बीच अपने पाण्डुर कमल मुख को हाथों में छिपाकर बैठती है। नयन से अविरल अश्रु प्रवाह जारी है, उसका अन्त ही नहीं आता। वह कुहू-शशि की तरह क्षीण हो गई है :

माधव कि कहब से विपरीत
जनु भेल जरजर भामिनि अन्तर
चिर बाढ़ल तसु प्रीत
निरस कमल मुख कर अवलम्बइ
सखि माझ बइसइ गोइ
नयन क नीर धीर नहिं बाँधइ
पंक कमल मंहि रोइ
मरम क बोल बयन नहिं बोलइ
तनु भेल कुहु ससि खीना
अवनि उपर धनि उठए न पारइ
धएल भुजा धरि दीना

राधा-कृष्ण का प्रेम महाभाव की दशा को प्राप्त होने के लिए सचेष्ट है। महाभाव उस दशा का नाम है जिसमें प्रेम दृढ़ होकर स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भाव के रूप में प्रकट होता है जैसे इक्षु-बीज बोने के बाद क्रम से रस, खांड़, गुड़, चीनी, सिता (मिश्री) और सितोपला में बदलता है। उसी तरह रति से प्रेम, प्रेम से राग, राग से अनुराग आदि की उत्पत्ति होकर महाभाव उत्पन्न होता है :

प्रेम क्रमे वाड़ि हय स्नेह मान प्रणय
राग अनुराग भाव महाभाव हय
जैछे वीज इक्षुरस गुड़खण्डसार
सर्करा सिता मिछरि शुद्ध मिसरि आर

इहा तैछे क्रमे निर्मल क्रमे बाड़े स्वाद
रति प्रेमादि तैछे बाड़ए आस्वाद

(चैतन्य चरितामृत)

प्रम जब अन्तिम अवस्था को प्राप्त होता है तब उसे 'चिद्दीपदीपन' अवस्था कहते हैं अर्थात् यह प्रेमविषयोपलब्धि का प्रकाशक होता है। स्नेह जब उत्कृष्टता प्राप्ति के द्वारा अभिनव माधुर्य की सृष्टि करता है और स्वयं अदाक्षिण्य धारण करता है तब उसे मान कहते हैं। मान अगर विश्रंभण या भ्रम-राहित्य को प्राप्त होता है तो उसे प्रणय कहते हैं। प्रणयोत्कर्ष के कारण अधिक दुःख भी सुखवत् मालूम हो तो उसे राग कहते हैं। जो राग नित्य नूतन मालूम हो उसे अनुराग की संज्ञा मिलती है। अनुराग अगर 'यावदाश्रयवृत्ति' होकर स्व-संवेद्य दशा को प्राप्त होकर प्रकट हो तो उसे भाव कहते हैं।[1]

विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपनी 'उज्ज्वल नीलमणि-किरण' में लिखा है कि जहाँ कृष्ण से प्राप्त सुख में क्षण भर के लिए भी असहिष्णुतादि होती है वही रूढ़ महाभाव है। करोड़ ब्रह्माण्डगत समस्त सुख भी जिसके सुख का लेशमात्र भी नहीं होता, सारे बिच्छुओं-सर्पों के दंशन भी जिस दुःख के लेश मात्र का अनुभव नहीं करा सकते, कृष्ण के मिलन-विरह का यह

---

१. आरुह्य परमां काष्ठां प्रेमः चिद्दीपदीपनः।
हृदयं द्रावयन्नेष स्नेह इत्यभिधीयते ॥
स्नेहस्तूत्कृष्टतावाप्त्या माधुर्यमान यन्नवम्।
यो धारयत्यदाक्षिण्यं स मान इति कीर्त्यते ॥
मानो दधानो विस्रंभ्रं प्रणय प्रोच्यते बुधैः ॥
दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कीर्त्यते ॥
सदानुभूतमपि यः कुर्यान्नवनवं प्रियम्।
रागो भवन्नवनवः सोऽनुरागो इतीर्यते ॥
अनुरागः स्वसंवेद्यदशां प्राप्य प्रका[illegible]ः।
यावदाश्रयवृतिश्चेत्ति भाव इत्यभिधीयते ॥
(उज्ज्वल नीलमणि

सुख और दुःख जिस दशा में प्राप्त होता है उस दशा को ही 'अधिरूढ़ महाभाव' कहते हैं।

राधा का प्रेम इसी अधिरूढ़ महाभाव की दशा को प्राप्त था। वह कृष्ण के वियोग में तड़फड़ा कर गिर पड़ती थी और घण्टों मुख नीचे किए आँसू गारा करती थी। वह लम्बी साँसें लेती, पृथ्वी पर लोटती, उसकी दशा को कोई समझ नहीं पाता।

लोटइ धरनि धरनि धर सोइ
खने खने साँस खने खन रोइ

खने खने मुरछइ कंठ परान
इथि परकी गति दैव से जान

हे हरि पेखलौं से वर नारि
न जीवइ बिनु कर परस तोहारि

और तब इस विरह के बाद स्नेह प्रणय का रूप ग्रहण करता है। वर्षों की साधना फलवती हुई। दुःख के बाद सुख के दिन आये। राधा कृष्ण के मिलन की रात में गोपियों ने गाया :

सुन्दरि चललहु पहु घर ना
चहु दिसि सखी सब कर धर ना

जाइतहु लागु परम डर ना
जइसे ससि काँप राहु डर ना

जाइतहि हार टुटिए गेल ना
भूखन वसन मलिन भेल ना

रोए रोए काजर दहाए देल ना
अदकंहि सिंदूर मेटाए देल ना

भनइ विद्यापति गाओल ना
दुख सहि सहि सुख पाओल ना

राधा को प्रिय-मिलन का यह सुख आकस्मिक रूप से प्राप्त नहीं हुआ। उसे इसके लिए अपना सब कुछ लुटा देना पड़ा। उसने निरन्तर अश्रु-प्रवाह से अपनी आँखों का काजर धो डाला, नाना प्रकार के दुःखों को सहन करने के बाद यह सुख प्राप्त हुआ। राधा ने अपने सम्पूर्ण हृदय को द्रवित द्राक्षा की तरह निचोड़ कर कृष्ण को अर्पित कर दिया। इसी कारण यदि

वह कृष्ण की भी अधीश्वरी बन गई तो इसमें क्या आश्चर्य। राधा कृष्ण की आह्लादनी शक्ति है—अर्थात् सम्पूर्ण संसार कृष्ण से आह्लादित होता है, वे ही कृष्ण राधा से आह्लादित होते हैं। उमापतिधर ने राधा के ईर्ष्यास्पद सौभाग्य का वर्णन करते हुए ठीक ही लिखा है[1] :

> भ्रूवल्लीवलनैः कयापि नयनोन्मेषै कयापि स्मित-
> ज्योत्स्ना विच्छुरितैः कयापि निभृतं सम्भावितस्याध्वनि ।
> गर्वोद्भेदकृता वहेल ललितश्रीभाजि राधानने
> सातङ्का नुनयं जयन्ति पतिताः कंसद्विषो दृष्टयः ॥

मार्ग में किसी गोपी के द्वारा भ्रूलता संचालन से, किसी के द्वारा खिले हुए नेत्रों से, किसी के मुखचन्द्र की चन्द्रिकोपम स्मिति से, किसी की गुप्त चेष्टाओं से, सम्मानित कृष्ण के गर्व भरे नेत्र जब राधा के मुख पर पड़े तो वे भय और आशंका से अनायास अनुनयपूर्ण हो गये। इसीलिए विद्यापति ने कहा :

> बढ़ कौसलि तुव राधे
> किनल कन्हाई लोचन आधे

पर यह सौभाग्य राधा को अनायास और विना कष्ट के नहीं मिला। राधा का प्रेम विद्यापति के ही शब्दों में वह कुन्दन है जो दुःसह आँच में तप तपकर निरन्तर चमकीला होता गया। इसीलिए इस कष्टप्राप्य मिलन के समय उसके हृदय का उल्लास भय-मिश्रित आशंका से पूरित है। कवि ने इस उल्लास को स्पष्ट करने के लिए जिस प्रकार के शब्द, छन्द और भाषा का प्रयोग किया है, वह पूर्णतः उपयुक्त और सार्थक है। प्रथम मिलन के अवसर पर राधा के चित्त मे उठने वाले भय को कवि ने वैसा ही वर्णन किया है जैसा कामशास्त्र में प्रथम मिलन के अवसर पर नवोढ़ा के चित्त में उठनेवाली आशंकाओं का वर्णन किया गया है। किन्तु विद्यापति का वर्णन उक्त परिपाटी का अन्धानुकरण नहीं करता। उसके वर्णन में अपनी एक अलग मौलिकता सर्वत्र दिखाई पड़ती है। प्रिय समागम के अवसर पर राधा कृष्ण के स्पर्श से

---

१. श्री पद्यावली में संकलित।

कमलपत्र पर संस्थुलित जल बूँद की तरह काँप उठी, विद्यापति कहते हैं कि अग्नि जलाती है; पर अग्नि की आवश्यकता किसे नहीं होती :

जइसे डगमग नलिनि क नीर
तइसे डगमग धनि क सरीर
भन विद्यापति सुनु कविराज
आग जारि पुनु आगि क काज

निचली पंक्ति अपभ्रंश के एक दोहे से बहुत साम्य रखती है। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के एक अपभ्रंश दोहे में यही भाव व्यक्त किया गया है। प्रेमिका अपनी सखी से कहती है कि यद्यपि प्रिय अप्रियकारक है तो भी उसे आज मेरे पास ले आ, आग से घर जलता है, तो भी उस आग का काम रहता है :

विप्पिअ-आरउ जइवि पिउ तो वि तं आणहिं अज्जु
अग्गिण दड्ढा जइवि घरु तो तें अग्गि कज्जु

विद्यापति इस मिलन की विविध अवस्थाओं का सविस्तर वर्णन करने लगते हैं। मैंने पहले ही निवेदन किया है कि ऐसे अवसरों पर उनका कवि कामशास्त्री का बाना भी धारण कर लेता है, वे काम का पाठ सिखाना शुरू कर देते हैं। किन्तु ऐसे प्रसंगों को ही उनका एकमात्र कृतित्व मानकर इन्हीं के आधार पर उनकी सम्पूर्ण साधना पर निर्णय दे देना जल्दीबाजी होगी।

प्रथम मिलन के अनुभावों का विशद वर्णन भी प्राचीन परिपाटी से ही चलता है। किन्तु एक बात अवश्य महत्त्व की है। वह यह कि कृष्ण-मिलन के अनुभवों को सखियों के द्वारा बार-बार पूछे जाने पर राधा जिस शालीनता और शिष्टता से उन्हें उत्तर देती है, वह प्रशंसनीय है। विद्यापति की तथाकथित विदग्ध राधा कहीं भी मुखर नहीं प्रतीत होती और न तो बार-बार एक बात ही पूछे जाने पर स्वाभिमानिनी की तरह उनका तिरस्कार ही करती है। इतना ही नहीं कृष्ण-समागम के अनुभव के विषय में उसका उत्तर इतना मासूमियत भरा और मर्यादासंकुल है कि वह उसके व्यक्तित्व के विषय में सहज आकर्षण और मृदुता उत्पन्न करता है। वह अपनी सखी से स्वभाव-सहज मार्दव के साथ कहती है कि मैं वह अनुभव तुझसे क्या कहूँ, उन्होंने

हँसकर जब मेरा आलिंगन किया तो मझे लगा कि अब मेरे हृदय में प्रेम का पौधा जो अंकुरित था आज फूलों से लद गया है। उन्होंने ज्योंही नीवी-बंध हटाया, तुम्हारी कसम, मुझे कुछ नहीं मालूम कि फिर क्या हुआ।

हँसि हँसि पहु आलिंगन देल
मनमथ अंकुर कुसुमित भेल
जब निबि बन्ध खसाओल कान
तोहर सपथ हम किछु जदि जान

इसी भाव का एक प्रसिद्ध संस्कृत श्लोक काव्यप्रकाश मे संकलित है। कोई सौभाग्यवती नायिका अपनी सखी से कहती है कि हे सखि, तू धन्य है जो प्रिय के संगम के अवसर की विश्वासयुक्त सैकड़ों मीठी बातें सुनाती है पर मै तो शपथपूर्वक कहती हूँ कि प्रिय जब अपने हाथो से मेरी नीवी का स्पर्श करता है तो मुझे कुछ नहीं मालूम कि फिर क्या होता है :

धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि
विश्रब्ध चाटुकशतानि रतान्तरेषु
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि
(चतुर्थ उल्लास, श्लोक ६१)

मैं यह नहीं कहता कि विद्यापति ने रति के तमाम वर्णनों में इस शालीनता का निर्वाह ही किया है। उनके ऐसे वर्णनों मे कई स्थल ऐसे भी हैं जहाँ स्थूलता आ गई है। रति प्रसंगों के बहुत भद्दे वर्णन भी दिखाई पड़ते हैं; किन्तु विद्यापति के वर्णनो मे कुरुचि उत्पन्न करने वाले प्रसंग कम से कम मिलेंगे, वैसे हनुमान-चालीसा का पाठ करने वालों के लिए यदि हर श्रृंगारिक वर्णन ही अश्लील लगे तो इसकी दवा भी क्या है ?

मिलन से एक ओर निरन्तर सहवास की उद्दाम लालसा जाग्रत होती है दूसरी ओर प्रिय को अपना बना लेने की इच्छा-पूर्ति के कारण एक विशेष प्रकार का आत्मविश्वास और प्रिय के प्रति अगाध प्रणय की भावना का उदय भी होता है। ऐसी परिस्थितियों में सखियों के कौतुक एक खास प्रकार के रस का संचार करते है। सखियाँ बार-बार इस परिवर्तन का कारण जानना चाहती हैं, वह पूछती हैं कि तुमने कृष्ण को अपने वश मे कैसे कर लिया ? विद्यापति की राधा बहुत साफ शब्दों में अन्तरंग सखियों से अपनी काम-कला-विदग्धता का बखान करती है। वह कृष्ण को गमार और अनभिज्ञ बताती है। कहती है :

जे किछु कभु नहि कला रस जान
नीर खीर दुहू करए समान
तन्हि सों कहाँ पिरीत रसाल
वानर कंठ कि मोतिय माल
भनइ विद्यापति इह रस जान
वानर मुँह कि सोभए पान

ऐसे मौकों पर विद्यापति का कामशास्त्री बहुत प्रबुद्ध नजर आता है और वे सारी दुनिया को काम-कला-रसायन बाँटने के लिए आतुर दिखाई पड़ते हैं। ऐसे ढंग से बातें करते हैं गोया उनके जैसा काम-कला पारखी कोई दूसरा मिलेगा नहीं। इसी से कभी-कभी बहुत हल्के ढंग की बातें भी करते हैं। छेड़खानी, कौतुक, वाग्वैदग्ध सम्बन्धी कविताएँ इसी मनोवृत्ति की सूचक हैं। जैसे :

अम्बर बदन झपावह गोरी
राज सुनइ छिअ चाँद क चोरी

प्रथम समागम के अनन्तर उत्पन्न विश्रंभण ने राधा के चित्त में अभिसार और छद्म-मिलन की प्रेरणा जगाई, विद्यापति को कौतुक का नया रास्ता मिला, उन्होंने अभिसार के प्रसंगों मे अपनी चतुराई लुटाकर रख दी। अभिसार के प्रसंग में विद्यापति ने रूढ़ियों की शरण अवश्य ली, किन्तु उनके माध्यम से उन्होंने चमत्कार उत्पन्न करने का ही प्रयत्न नहीं किया। अलंकार प्रयोग किया अवश्य किन्तु उसका उद्देश्य महत्त्वपूर्ण रहा। उन्होंने रास्तों की बाधाओं और कष्टों का वर्णन करके प्रेम को परीक्षित किया, उसके शुद्ध होने का प्रमाण उपस्थित किया। उदाहरण के लिए निचले पद में अलंकरण की प्रधानता दिखाई पड़ती है; किन्तु जरा गहराई से देखने पर मालूम होगा कि कवि का उद्देश्य अलंकरण नहीं; कुछ और ही है :

माधव धनि आएल कत भाँति
प्रेम हेम परखाओल कसौटी
भादव कुहु तिथि राति
गगन गरज घन ताहि न गन मन
कुलिस न कर मुख बंका
तिमिर अंजन जल धार धोए जनि
ते उपजावलि संका
भाग भुजग सिर कर अभिनय कर

झापल फनि मनि दीप
जानि सकल घन जे दइ चुम्बन
ते तुंअ मिलन समीप
नारि रतन धनि नागर व्रजमनि
रस गुन पहिरल हार
गोविंद चरन मन कह कविरंजन
सफल भेल अभिसार

गीतगोविन्द की राधा भी 'जलधरकल्प अनल्प तिमिर' को कृष्ण समझकर बार-बार आलिंगन करती है और चुम्बन देती है :

श्लिष्यति चुम्बती जलधर कल्पम्
हरिरुपगत इति तिमिरमनल्पम्

अभिसार, प्रेम-कौतुक और प्रणय के नाना व्यापारों का यह वातावरण विद्यापति के सजीव वर्णनों से निरन्तर उल्लासपूर्ण और विकासशील दिखाई पड़ता है। मान का वैष्णव साहित्य मे बड़ा महत्त्व बताया गया है। मान का दो उद्देश्य रहता है। पहला तो यह कि मान के माध्यम से प्रेमी या भक्त के मन को अनन्यता का पता चलता है। प्रेमिका यह कभी सहन नहीं कर सकती कि उसका प्रिय किसी और की ओर उन्मुख है। इस धारणा से उसके प्रेम की एकाग्रता का पता चलता है, दूसरी ओर यह मान भक्त या प्रेमी के हृदय के संकोच या स्वाभाविक क्षुद्रता का भी परिचायक है। मान के समय मे नाना प्रकार के कटु-तिक्त अनुभवों को प्राप्त कर लेने के बाद प्रेमी के हृदय में विशालता या उदारता का भाव जागता है। वह सोचता है कि उसका प्रिय सैकड़ों लोगों के प्रेम का आलम्बन बन सकता है, उससे जितना प्राप्त होता है, वही बहुत है, इस प्रकार की भावना के कारण एक ओर जहाँ प्रेमी के चित्त का परिष्कार होता है, वहीं दूसरी ओर वह प्रेम के वास्तविक अर्थ को—अपार्थिव स्वरूप को समझने मे भी समर्थ होता है। विद्यापति ने मान की विविध परिस्थितियों का बड़ा सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है। कृष्ण को नाना प्रकार की नायिकाओं से रमण करने वाला बताया गया है। उनके इस चंचल स्वभाव पर व्यंग्य करती हुई राधा कहती है :

लोचन अरुन बुझल बड़ भेद
रयनि उजागर गरुअ निवेद

ततहि जाहु हरि न करह लाथ
रयन्हि गमाओल जन्हिके साथ
कुच कुंकुम माखल हिय तोर
जनि अनुराग राँगकरु। गोर

लाल नेत्रों ने आपके मन का सारा रहस्य खोलकर रख दिया है। रात्रि-जागरण का यह भेद छिपा नहीं रहा। वहीं जाइये जिसके साथ रात बिताई है। पर-नारी के कुचों पर लगा अंगराग तुम्हारे हृदय को अनुराग से उज्ज्वल बना रहा है। कृष्ण सफाई देने की कोशिश करते हैं; पर सत्य के बन्धन एक क्षण के लिए उनके अधरों को बांध लेते हैं, मगर वे भी कोई नौसिखुआ थे नहीं, बोले :

सुन सुन सुन्दरि कर अवधान
विनु अपराध कहसि काहे आन
पुजलौं पसुपति जामिनि जागि
गमन विलम्ब भेलि तोंह लागि
लागल मृगमद कुंकुम दाग
उचरइ मंत्र अधर नहिं राग
रजनि उजागर लोचन घोर
ताहि लाग तोहे बोलसि चोर

राधा इतनी भोली तो थी नहीं कि इस बकवास को सही मान लेती, सो मान वैसे ही चलता रहा, विद्यापति ने कई पद इस मनुहार और मान की स्थिति को संभालने के लिए खर्च कर दिये। तब एक दिन कृष्ण ने इस मान को भंग करने के लिए विचित्र कौतुक किया। मुकुट उतार कर अपने घुंघुराले बालों में सीमन्त बनाया, बालों को गूँथ कर वेणी बना ली। चन्दन की जगह सिन्दूर लगाया, आँखों को काजल से आँज लिया, कुण्डल की जगह कर्णफूल धारण किया, कलाई में सोने की चूड़ियाँ पहन लीं, चरणों को जावक से लाल कर लिया, कदम्ब के फूलों को छिपाकर ऊपर से कंचुकी पहन ली, लाल साड़ी पहनकर, औरतों की तरह से पहले बाँया पैर रखकर त्रिया-लक्षण का परिचय देते हुए राधा के पास से बीणा बजाते हुए निकले :

राइ क निकट बजाओलि सुन्दरि
सुनइत भल गेइ साधा

ए नव यौवनि नविन बिदेसिनि
आओ पुकारइ राधा
नाम गाम कह कुल अवलम्बन
व्रज आगम किये काजा
सुखमइ नाम मथुरापुर जदुकुल
गुनीजन पीड़इ राजा
धनिकइ तुअ गुन रीझि पसन्न भेल
माँगह मानस जोय
मनोरथ कर्म जाँचति जदि सुन्दरि
मान रतन देह मोय

और तब वचनबद्ध राधा उस नवीन विदेसिनी की ओर से चाहकर भी मुँह मोड़ न सकी और प्रिय आलिंगन की अजस्र धारा में मान के पाषाण गल कर बहने लगे। विद्यापति के कृष्ण भी कम मान नहीं करते, उनके मान की परुषता तो राधा के हृदय को नाना प्रकार की स्मृतियों से दग्ध कर देती है। वह इतना कातर हो जाती है, कि प्रिय के मान में अपने को ही दोषी समझती है : वह कहती है कि क्या मैं साँझ का एकाकी तारा हूँ या भादों के चौथ का चन्द्रमा—इन दोनों में किसके समान मेरा मुख हो गया है जिसे कलंकित समझकर प्रभु इधर देखते ही नहीं :

की हम साँझ क एकसर तारा
भादव चौथि क ससि
इथि दुहु माझ कवन मोर आनन
जे पहु हेरसि न हंसि

उपेक्षित हृदय की इस आत्मग्लानि को स्पष्ट करने के लिए विद्यापति ने जो प्रतीत प्रस्तुत किए हैं वे रूढ़ और प्रचलित नहीं हैं इनके पीछे लोक-चित्त के संस्कार छिपे हैं, इसी कारण ग्लानि की यह व्यंजना पूर्ण प्रेषणीय और अत्यन्त मार्मिक हो सकी है। किन्तु मान मान ही था, वह टूटा और विद्यापति ने अपना कामकला का अवशिष्ट उपदेश बड़े अवसर पर सुनाना शुरू कर दिया। रति की विभिन्न अवस्था में कामशास्त्र के बताये हुए कामोत्पादक उपचार, नखक्षत, दन्तक्षत तथा जाने कितनी मुद्रायें विद्यापति ने सचित्र प्रस्तुत कर दीं। उल्लास का यह वातावरण, मांसल सौंदर्य के उपभोग का यह इन्द्रिय व्यापार, दैहिक स्पर्श सुख के तरलायित प्रसंग, एक-एक अंग के स्थूल और विवृत विवरण केवल इन्द्रिय-लिप्सा

के परिचायक हो जाते, यदि इनके अन्त में विरहोत्पन्न आकस्मिक विश्लेष-दु:ख की इतनी बड़ी अतीन्द्रिय पीड़ा को जगाने में समर्थ न होता। विद्यापति का प्रबुद्ध पाठक उनके इन स्थूल रति व्यापारों को कभी क्षमा न कर पाता यदि वे साध्य बनकर आते, किन्तु यह अवस्था प्रेम के एक पक्ष का ही परिचय देती है, उसकी पूर्णता का नहीं। इस मिलन-सुख के अन्तराल में विरह की इतनी तीव्र व्यथा सोई है, इसे देखते हुए पाठक इन प्रसंगों की अतिवादिता को क्षम्य मान लेता है।

विरह के चित्रण में विद्यापति बेजोड़ हैं। उनका विरह उपहासास्पद नहीं हुआ है। सूर की तरह विरह की उसासों का आधिक्य भी नहीं है। इसका मूल कारण है विद्यापति द्वारा मिलन सुख की स्थूल विवृति। यह आश्चर्य की बात नहीं है। मिलन के सुख का वे इतना गाढ़ा चित्रण इसीलिए करते हैं कि वे विरह की काली रात्रि को अधिक स्पष्ट उभारना चाहते है। अर्थात् उनके मिलन-संयोग के चित्रों की सघनप्ता और रंग-साजी उनके विरह के पक्ष को ज्यादा स्पष्ट करने मे सहायक हुई है।

मोहन मथुरा चले गये। जिस कितव के छल को सौभाग्य समझ कर राधा अपने को अहिवाती समझती थी, उसी ने उससे मुँह मोड़ लिया, मोहन के गये एक पूरा दिन दिन बीत गया।

गतौ यामौ गतौ यामो गता
याभा गतं दिनम्
हा हन्त किं करिष्यामि न पश्यामि
हरेर्मुखम्।

एक पहर बोता, दोपहर बीता; तीसरा पहर भो बीत गया रात गई, दिन गया; पर कृष्ण नहीं आये और तब राधा को लगा कि इस बार का विश्लेष क्षणिक मान नहीं है....नियति की क्रूर भृकुटि तन चुकी है....कल आयेंगे ऐसा कह कर तो प्रिय गया था, पर कल की रेखा खींचते खींचते भीत भर गई, आखिर वह कल कब आवेगा :

कालिक अवधि करिअ पिय गेल
लिखइते कालि भीति भरि गेल
भले प्रभात कहत सबहीं
कह कह सजनि कालि कबहीं

राधा के लिए एक दिन का बिछोह भी दु:सह था।

कृष्ण क्या गए राधा का सर्वस्व हो चला गया। सपने में उसने देखा कि उसके हाथ से पारस मणि छूट गई, वह दूसरे के धन से धनवती हुई थी, जिसका धन था उसके पास चला गया। गोकुल जिस चाँद के लिये हमेशा चकोर की भाँति देखता था उसी चन्द्रमा की चोरी हो गई :

सूतहु छलहुँ अपने गृह रे
निन्दइ गेलउँ सपनाई
कर सौं छुटल परस मनिरे
कोन गेल अपनाई
गोकुल चान चकोरल रे
चोरी गेल चन्दा
बिछुड़ि चललि दुहुँ जोड़ी रे
जीव दइ गेल धंदा

विरह को इस अनलंकृत व्यंजना के लिए विद्यापति ने बड़े कौशल से लोक-गीता की धुन का अनुसरण किया है। गीति-काव्य वाले निबंध मे मैंने बताया है कि इस प्रकार के इकहरे और अत्यन्त तीव्र भावों की व्यंजना शब्दों के माध्यम से नहीं हो पाती, इन्हें व्यक्त करने के लिए अत्यन्त सीधे शब्दों और अकृत्रिम प्रतीकों का प्रयोग होता है। खास तौर से लोकगीतों की धुन ही इतनी करुणोत्पादक होती है कि वह विरह की सान्द्रता और सघनता को भलीभाँति व्यक्त कर देती है। उदाहरण के लिए नीचे का गीत देखिए :

लोचन धाए फेनायल
हरि नहि आयल रे
सिव सिव जिबओ न जाए
आस अरुझायल रे
मन करे उड़ि जाइअ
जहाँ हरि पाइअ रे
प्रेम परसमनि जानि
आनि उर लाइअ रे

अथवा—

सखि मोर पिया
अवहु न आओल कुलिस हिया।

विरह के वर्णन में विद्यापति ने बारहमासा और षट्-ऋतु वर्णन की पद्धति को भी अपनाया है। षट् ऋतु वर्णन प्रायः संयोग शृङ्गार में ही प्रयुक्त होता था, विरह-वर्णन में बारहमासा का प्रयोग होता था, किन्तु बाद में इस भेद को मिटा दिया गया और षट्ऋतु वर्णन का प्रयोग विरह में भी होने लगा, हमने अगले अध्याय में 'प्रकृति-परिवेश' के अन्तर्गत इस प्रसङ्ग पर विस्तार से विचार किया है।

विरह-वर्णन में सबसे महत्त्वपूर्ण होते हैं विविध संचारियों के वर्णन, संचारी भावों के वर्णन प्रायः कवि लोग उनकी निश्चित संख्या को दृष्टि में रखकर एक ही पद में उनका प्रसंगानुकूल कथन कर देते हैं। ऐसी स्थिति में संचारियों का वर्णन कभी भी मार्मिक और हृदयस्पर्शी नहीं हो पाता। विद्यापति विप्रलंभ शृङ्गार के संचारीभावों के वर्णन में दक्ष हैं :

सखि हे कतहु न देख मधाई
काँप सरीर धीर नहि मानस
अवधि नियर भेलि आई
मृगमद चानन परिमल कुंकुम
के गेल सीतल चंदा
पिया विसलेस अनल सों लखिये
विपति चिन्हिए भल मंदा
भनइ विद्यापति सुनु वर जौवति
चित जनु झंखह आजे
पिय विसलेस कलेस मेटाएत
बालम विलसि समाजे

मैंने अभी निवेदन किया कि विद्यापति के विरह में अतीन्द्रिय पीड़ा ही नहीं है, यानी ऐसा नहीं कि उनको राधा कृष्ण मिलन के आंगिक सुखों को कभी नहीं सोचती, सोचती है जैसे :

सरसिज विनु सर सर विनु सरसिज
की सरसिज विनु सूरे
जौवन विनु तन तन विनु जौवन
की जौवन पिय दूरे

इतना होने पर भी, राधा के मन में केवल आंगिक सुख की स्पृहा ही इतने गहन विरह का कारण नहीं बनती, कुछ और है जो राधा के मन को मथ रहा है :

तेल विन्दु जैसे पानि पसारिअ
ऐसन मोर अनुराग
सिकता जल जैसे छनहिं सूखए
तैसन मोर सुहाग

सारी प्रकृति में विपत्ति के बाद सुख का आगमन होता है। निष्पत्र वृक्ष नवल पत्तों से सुशोभित हो रहे हैं; लेकिन विरहिणी की आँखों में एक बार जो बरसात आई फिर जाने का नाम ही नहीं लेती :

विपत अतप तरु पाओल रे
पुनु नव नव पात
विरहिन नयन दिहल विहि रे
अविरल बरसात

राधा कुसुमित कानन को देखकर एक क्षण दोनों आँखें बन्द करके खड़ी रह जाती है। कोकिल की आवाज भौंरों की गुंजार को सुनते ही दोनों कान बन्द कर लेती है। उसकी अवस्था का क्या कहना। रूढ़ उद्दीपनों के माध्यम से भी विद्यापति ने उस विरह-कृशगात्री का एक सकरुण चित्र उपस्थित किया है :

चानन भेल विषम सर रे
भूषन भेल भारी
सपनहु हरि नहिं आयल रे
गोकुल गिरधारी
एकसरि ठाढ़ि कदम तर रे
पथ हेरति मुरारी
हरि विनु हृदय दगध भेल रे
झामर भेल सारी

राधा की इस अपूर्व विरह-दशा को विद्यापति भी सँभालने में असमर्थ हैं। लगता है उन्होंने विरह के आरम्भिक पद मात्र काव्य-रूढ़ि-निर्वाह के लिए लिखे थे; किन्तु तभी उनके हृदय को किसी परिस्थिति ने सहज विरह-पीड़ा से भर दिया और तब विरहिणी राधा के रूप में जिस विरह-पीड़ा की धारा बह चली, वह विद्यापति के हाथ से छूट गयी। कवि

ने लिखा है कि मैं राधा का कभी प्रबोधन नहीं कर सकता। मदन-सर-धारा में बहती हुई यह लड़की हमारे बचाये नहीं बच सकती :

माधव कत परबोधब राधा
हा हरि हा हरि कहतहिं बेरि बेरि
अब जिउ करब समाधा,
धरनि धरिये धनि जतनहिं बइसइ
पुनहिं उठए नहि पारा
सहजहिं विरहिनि जग महँ तापिनि
वौरि मदन सर धारा
अरुन नयन नोर तीतल कलेवर
विलुलित दीघल केसा
मन्दिर बाहर करइत संसर
सहचरि गनतहिं सेसा

राधा के विरह में सचमुच विद्यापति ने अपना हृदय निकाल कर ही रख दिया है। यह विरह पीड़ा इतनी अनन्तव्यापिनी और इतनी शुभेच्छा-पूर्ण है कि इसकी बराबरी का कोई और वर्णन कठिनाई से प्राप्त होगा। राधा कृष्ण के लिए अपनी इस अवस्था में भी हजारों शुभेच्छाएँ भेजती हैं, वे जहाँ भी रहें सुख से रहे, हमारा दुःख तो हमारे कर्मों का फल है। विद्यापति में विरह वर्णन की दूसरी विशेषता के विषय में भी मैं आरंभ में ही लिख चुका हूँ। यानी आशावादिता। इस प्रकार के कष्टों में पड़ी हुई विरहिणी को सान्त्वना देते वक्त जिस प्रकार उसे प्रिय-मिलन का विश्वास दिलाते हैं, वह एकदम उनकी अपनी चीज है। विरहिणी राधा का दुःख शाश्वत है क्योंकि विद्यापति काल्पनिक मिलन के मिथ्योपचार से इस दु.ख को हृदय से उतारना नहीं चाहते। उनके लिए यह दुःख संसार की अमूल्य निधि है, इसे यों ही खो देना उन्हें स्वीकार नहीं। राधा अपने प्रिय की याद करते-करते 'भृंगीगति' को प्राप्त हो गई, वह स्वयं माधव हो गई है। अपने गुणों पर लुब्ध है, अपने ही विरह में उसने अपना ही शरीर जर्जर कर डाला। राधा के लिए राधा ने सब कुछ न्योछावर कर दिया। विद्यापति कहते हैं कि जब वह प्रेम की विभोर दशा में होती है तब तो अपने को कृष्ण समझकर राधा-राधा रटती है, परन्तु जब उसे होश आता है तो फिर कृष्ण-कृष्ण की रट से प्राणों को व्यग्र कर देती है। द्विधा-अग्नि से पीड़ित राधा की यह कंचन-मूर्ति विद्या-

पति के आँसुओं से अभिषिक्त हुई है :

अनुखन माधव माधव सुमरइत
सुन्दरि भेलि मधाई
ओ निज भाव सुभावह विसरल
अपने गुन लुबुधाई
माधव अपरूप तोहर सनेह
अपने विरह अपन तन जरजर
जीवइति भेल संदेह
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि
छल छल लोचन पानि
अनुखन राधा राधा रटइत
आधा आधा वानि
राधा सयं जब पुनतहि माधव
माधव सयँ जब राधा
दारुन प्रेम तबहिं नहिं टूटत
बाढ़त विरहक बाधा
दुहु दिसि दारुन दहन जैसे दगधइ
आकुल कीट परान
ऐसन वल्लभ हेरि सुधामुखि
कवि विद्यापति भान

इस तरह की ममतामयी, प्रणत प्रेमानुरागिनी राधा से अलग होकर कृष्ण भी कम दुःखी नहीं हुए। राधा के वियोग में कृष्ण भी विगलित होकर निरन्तर आँसू बहाते रहे :

एरे राधे जानि न जान, तोरे विरहे विमुख कान्ह
तोरिये चिन्ता तोरिये नाम, तोरिए कहनी कहे सब ठाम
आओर की कह सिनेह तोर, सुमरि सुमरि नयन भर नोर

राधा के प्रेम का यह प्रतिदान भी बहुत है। यदि कृष्ण एक बार भूल कर भी यह स्वीकार कर लें कि वे राधा के प्रेम को भुला नहीं सके, तो राधा अपने जीवन को कृतार्थ समझेगी। सूर की राधा के कृष्ण उससे फिर मिले। प्रभास क्षेत्र में दोनों का मिलन हुआ। कृष्ण ने मथुरा जाने के बाद ही उद्धव को दूत बनाकर सन्देश भी भेजा :

ऊधो मोहि ब्रज विसरत नाहीं

केशव भट्ट के कृष्ण ने तो राधा से अनुनय भी की "जब आप अपने स्वजनों की गिनती करें, उस समय एक क्षण के लिए मुझे भी याद करके उनमें मेरे नाम की भी एक रेखा खींच देना :

आस्तां तावद् वचन रचना भाजनत्वं विदूरे
दूरे चास्तां तव तनुपरीरम्भ सम्भावनापि
भूयो भूयः प्रणतिभिरिदं किन्तु याचे विधेया
स्मारं स्मारं स्वजन गणने कापि रेखा ममापि

'रत्नाकर' के कृष्ण यमुना में बहे जाते हुए गोपी कंठ से गिरे हुए मुर्झाए कमल को छाती से लगा कर रोते रहे। मिथिला के एक संस्कृत कवि के कृष्ण ने तो यहाँ तक कह दिया कि राधे यदि कभी निर्जन वन अथवा पथिक रहित मार्ग मिल गया तो मैं निःसंकोच अपने हृदय की पीड़ा को आँसुओं में बहा कर संसार को अपने शोक से प्लावित कर दूँगा :

यदि निभृतमरण्यं प्रान्तरं वाप्यपान्थं
कथमपि चिरकालं पुण्यपाकेन लप्स्ये
अविरल गळदस्रैर्घर्घरध्वानमिश्रैः
शशिमुखि तव शोकैः प्लावयिष्ये जगन्ति

परन्तु विद्यापति के कृष्ण ने न तो सन्देश भेजा, न तो खुद कभी मिले। विद्यापति अपनी राधा की पीड़ा से व्याकुलित होकर उसे खुद आश्वासन देते रहे, शीघ्र ही प्रिय के मिलने के आशापूर्ण समाचारों से वे राधा के शोकाभिभूत चित्त को प्रबोधते रहे; पर वे प्रवंचना के इस भार को खुद संभाल न सके और विद्यापति को राधा शोक के अथाह सागर में निमज्जित हो गई। विद्यापति ने राधा की जिस सजीव मूर्ति को तिल-तिल करके संवारा था, अपरूप सौन्दर्य के जिस उपादान को उन्होंने रच-रच कर सारी हार्दिक ममता के साथ खड़ा किया था, उसी को उन्होंने अपने ही हाथों शोक समुद्र में विसर्जित कर दिया।

मैं नहीं जानता कि किसी दूसरे कवि ने अपनी नायिका को एक साथ इतना मांसल, इतनी विदग्ध, इतनी सरल, सुन्दर, नारीत्वपूर्ण, कामिनी, सारे विक्षोभकारी सौन्दर्य-उपकरणों की मूर्ति, इतने स्पष्ट हृदयवाली दूध की तरह स्वच्छ और स्वस्थ, पृथ्वी की गन्ध की तरह मुग्ध करने वाली, विद्युत् की तरह चंचल, धरती की तरह क्षमाशील, ग्रामीणा की तरह निश्छल, और साथ ही कीर्ति की तरह आकर्षक, शुभ्रा-ज्योति का तरह शान्तिदायिनी, विरह पीड़ित शची की तरह पवित्र, और पार्वती की तरह साधनारत बनाया होगा।

अपरूप के कवि

शिप्ले के साहित्य-कोश में सौन्दर्य शीर्षक प्रकरण में एक बड़ी मजेदार बात कही गई है। सौन्दर्य के विषय में शास्त्रीय मतों की संकुलता की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि 'सौन्दर्य का पथ सिद्धान्तों की कब्रों से घिर गया है। किन्तु प्रेतात्माएँ चलती भी हैं और जब कि रास्ता कुहरे से ढका हो तो यह फर्क करना बहुत कठिन हो जाता है कि कौन जिन्दा है और कौन मुर्दा।'[1] वस्तुतः सौन्दर्य जैसी वस्तु की परिभाषा करना कठिन ही नहीं असम्भव है। लेकिन असम्भव को भी सम्भव बनाने का प्रयत्न मानव की प्रवृत्ति है, ऐसी अवस्था में यदि सिद्धान्तों का बवण्डर या तर्कों का जाल लक्ष्य-वस्तु को लक्षणों की कुहेलिका में समेट ले तो क्या आश्चर्य। इसीलिए हजारों वर्ष पहले प्लेटो ने सौन्दर्य की परिभाषा बताते हुए कहा था कि अगर कोई वस्तु सुन्दर है तो इसका केवल एक ही कारण हो सकता है कि वह अत्यन्त सुन्दर है। सौन्दर्य की व्याख्या नहीं हो सकती, उसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता, वह अनुभव की वस्तु है, उसमें रमा जा सकता है।

सौन्दर्य वस्तु का नहीं व्यक्ति का धर्म है जो इसे सोचता है, समझता है। ऊपर से देखने से यह विचार बहुत विचित्र मालूम हो सकता है, किन्तु इसमें सत्य है यदि ऐसा न होता तो हर सुन्दर वस्तु बिना किसी अन्तर के प्रत्येक मनुष्य को सुन्दर प्रतीत होती. पर ऐसा नहीं होता। प्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम ने सौन्दर्य के विषय में कहा है कि यह वस्तु का गुण नहीं है यह केवल उस मस्तिष्क में विद्यमान रहता है जो उन वस्तुओं के बारे में सोचता है। इस प्रकार सौन्दर्य मूलतः वैयक्तिक या व्यक्तिनिष्ठ

---

१. Dictionary of world literary terms, P. 36.

(Subjective) गुण है। जो कोई वस्तु व्यक्ति को आनन्द प्रदान कर सके वह सुन्दर कही जा सकती है। इसी प्रयोजन के कारण सौन्दर्य के विषय में विविध प्रकार के विवाद चलते हैं। क्योंकि यदि सौन्दर्य की परिभाषा करना कठिन है तो उस आनन्द की परिभाषा तो और भी कठिन है जो उस वस्तु के सम्पर्क में आने से उत्पन्न होता है।

कवि या कलाकार के लिए सौन्दर्य का दुहरा महत्त्व है। एक तो यह कि वह वस्तु के सौन्दर्य के प्रति या अपनी सौन्दर्य-प्रिय रुचि के कारण किसी खास वस्तु के प्रति अधिक जागरूक होता है। वह वस्तु के बारे में अधिक गहराई से सोचता है। दूसरे इस अनुभूत सौन्दर्य को अभिव्यक्ति देने के लिए उसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि उस वस्तु के सौन्दर्य को सही-सही व्यक्त कर सकें। इसी कारण कवि का उत्तरदायित्व दुहरा हो जाता है। संसार इतना सीधा या सरल नहीं है। प्रत्येक वस्तु में एक प्रकार की गति या संघर्ष है। एच० एच० परखूरष्ट (H. H. Purkhurast) ने लिखा है कि कला का मुख्य ध्येय अपने शब्दों के माध्यम से विश्व जनीन संघर्ष को प्रतिध्वनित करना है। वह प्रत्येक वस्तु सुन्दर है जो किसी सफल माध्यम के सही प्रयोग से उत्पन्न होती है, जो उसे व्यक्त करता है।[1] यहाँ पर लेखक ने सौन्दर्य को अभिव्यक्ति में निहित बताया है।

इस प्रकार यह निश्चित करने के लिए कि किसी कवि ने सौन्दर्य का वर्णन कैसा किया है हमें मूलतः दो वस्तुओं पर विचार करना होगा। पहला यह कि सौन्दर्य के विषय में कवि की रुचि कैसी है। अर्थात् वह कैसे विषयों को और कितनी बारीकी से चुनता है। कवि के इस चुनाव में कितना आभिजात्य है, कितना परिष्कार है। दूसरे यह कि वह व्यक्तव्य वस्तु को किस प्रकार प्रेषणीय बनाता है, उसकी भाषा, शैली, उपमान, आशय सभी मिलकर उसके सौन्दर्य-बोध का परिचय देते हैं।

---

1. The function of art, of all art is the echo in its own terms, the universal conflict. Anv thing is beautiful that results from successful exploitation of a medium that exhibits. (Beauty, 1930)

विद्यापति वस्तुतः सौन्दर्य के कवि हैं। सौन्दर्य उनका दर्शन है, सौन्दर्य उनकी जीवन-दृष्टि। इस सौन्दर्य को उन्होंने नाना रूपों में देखा था, इसे कुशल मणिकार की तरह उन्होंने चुना, सजाया, सँवारा और आलोकित किया था। सौन्दर्य मन को कितना भाव-विह्वल और एकोन्मुख कर देता है इसे विद्यापति जानते थे। इसीलिए उन्होंने प्रायः 'अपरूप' या सौन्दर्य की अतिशयता को एक सजीव पदार्थ के रूप में ग्रहण किया है। जब वे राधा या कृष्ण के रूप का वर्णन करने लगते हैं तो सचेष्ट रूप से इतना कहना नहीं भूलते कि इस 'अपरूप' ने सम्पूर्ण त्रिभुवन को विजित कर लिया है, यह अपरूप किसी भी चित्त को चंचल कर सकता है। किसी भी ज्ञानी को क्षुब्ध कर सकता है :

सुधामुखि के विहि निरमल बाला
अपरूव रूप मनोमय मंगल
त्रिभुवन विजयी माला

'माधव की कहब सुन्दरि रूपे, सजनी अपरूप पेखल रामा, ए सखि पेखलि एक अपरूप', आदि पंक्तियों से आरम्भ होने वाले बीस से अधिक गीतों में इस अपरूप सौन्दर्य के माया-संकुल प्रभाव की निगूढ़ व्यंजना की गई है।

इस सौन्दर्य का प्रभाव विश्वव्यापी है। इसके सम्पर्क में आने पर विश्व की सभी वस्तुएँ सुन्दर हो जाती हैं। जायसी के पदमावत में पद्मावती के सौन्दर्य को लोग पारस-रूप कहते हैं। पद्मावती के दिव्य रूप के स्पर्श से भी वस्तुएँ अभिनव सौन्दर्य को धारण करती हैं। आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने इस पारस रूप की प्रशंसा करते हुए लिखा है[1] कि "पारस रूप वह है जिसके स्पर्श से यह सारा संसार रूप ग्रहण करता है। पद्मावती में वही पारस रूप है। पद्मावती के रूप वर्णन के बहाने भक्त कवि ने वस्तुतः भगवान के प्रभाव का वर्णन किया है। पद्मावती ने मानसरोवर में स्नान करते समय जरा-सा हँस दिया और फिर :

---

१. मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० २०६।

नयन जो देखा कंवल भा निरमल नीर समीर
हँसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर

विद्यापति की राधा का अपरूप भी यही पारस रूप है। आश्चर्य तो यह देखकर होता कि जायसी से सौ वर्ष पहले विद्यापति ने जिस पारस रूप का चित्रण किया, उस पर लोगों का ध्यान नहीं गया, इसे विद्यापति का अभाग्य ही कहें। विद्यापति की राधा वह अपूर्व सौन्दर्य-मणि है जिसकी प्रभा से सभी पदार्थ प्रकाशित होते हैं :

जहाँ जहाँ पग-जुग धरई, तँहि तँहि सरोरुह भरई
जहाँ जहाँ झलकत अंग, तँहि तँहि विजुरि तरंग
कि हेरल अपरूप गोरि, पइठल हिय माँहि मोरि
जहाँ जहाँ नयन विकास, तँहि तँहि कमल परगास
जहाँ लहु हास सँचार, तँहि तँहि अमिय विथार
जहाँ जहाँ कुटिल कटाख, ततँहि मदन सर लाख
हेरइति से धनि थोर, अब तिन भुवन अगोर
पुनु किए दरसन पाव, दय योहे इह दुख जाव
विद्यापति कह जानि, तब गुने दैवब आनि

एक बार थोड़ी देर के लिए उस गोरी के जिस अपरूप को देखा, उसी से तीनों भुवन भरा मालूम होता है, उसके मधुर हास का एक कण जैसे सारी पृथ्वी पर अमृत बिखेर देता है। यह राधा का पारस रूप जिसे विद्यापति ने सम्पूर्ण श्रद्धा और हृदय की पवित्रता से निर्मित किया है, इसमें जो लोग शृंगार का पार्थिव रूप-चित्रण मात्र खोजना चाहें, उन्हें कौन रोक सकता है, किन्तु विद्यापति का यह वर्णन राधा के सौन्दर्य की दिव्यता का प्रकाशक भी है, इसमें सन्देह नहीं। विद्यापति के द्वारा चित्रित सौन्दर्य की दिव्यता और पवित्रता की बात करके मैं उनकी मांसल सौन्दर्य-सृष्टि का मूल्य घटाना नहीं चाहता। वस्तुतः सौन्दर्य-लोभी कवि कभी भी रहस्यवादी हो ही नहीं पाता, उसके मन के कुछ क्षणों में ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है जब वह सुन्दर वस्तु के गुण-धर्म पर मुग्ध होकर उसके

उद्दीप्त स्तर का चित्रण करे और उसमें दिव्यता (Divinity) लाने का कुछ प्रयत्न भी करे परन्तु अधिकांशतः वह सौन्दर्य को यथार्थ जगत् के बीच में ही देखना पसन्द करता है। वाल्मीकि, कालिदास या रवीन्द्रनाथ आदि जो भी सौन्दर्य प्रेमी कवि हैं, वे सजग रूप से अपनी सौन्दर्य-सृष्टि का पृथ्वी पर ही रखना चाहते हैं अर्थात् उसमें यथासंभव यथार्थ का आधार रखते हैं; किन्तु कभी-कभी कवि विशेष की प्रवृत्ति इतनी अन्तर्मुखी होती है कि वह प्रत्येक वस्तु में किसी अदृश्य रूप की कल्पना करने लगता है। वस्तुओं का व्यापक आधार उसके लिए 'किसी अदृश्य' की लीला-भूमि प्रतीत होने लगता है, ऐसी दशा में जब वह प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होता है तो वह उसे मायाविनी कहता है, उसके आकर्षक रूप जाल मे न फँसने की जागरूकता उसे कुछ हद तक रहस्यवादी बना देती है जैसा कि रवीन्द्रनाथ या अन्य रहस्यवादियों के काव्य मे दिखाई पड़ता है। विद्यापति कालिदास की प्रवृत्ति के कवि थे। यह बात दूसरी है कि कालिदास जितनी मौलिकता या नवीनता उनमे नहीं है। इसका मुख्य कारण तत्कालीन काव्यशैली में ही ढूँढा जा सकता है, जिसमे नवीन उद्भावनाओं पर कम कवि-प्रसिद्धियों और रूढ़ उपमानों पर ज्यादा ध्यान दिया जाने लगा था। विद्यापति ने दोनों प्रकार के चित्रण किए हैं। बहुत-से चित्रण उनकी अपनी उद्भावनाओं से अनुप्राणित हैं बहुत-से प्रचलित परिपाटी का निर्वाह-मात्र करते हैं।

प्रथम प्रकार के चित्रण की विशेषता कवि की रुचि के कारण ही उत्पन्न होती है। सौन्दर्य के बारीक पक्षों को स्पष्ट करने के लिए नये दृश्य-विधान और अप्रस्तुतों का प्रयोग किया गया है। यह कह सकना तो मुश्किल है कि ये प्रयोग विद्यापति के बिल्कुल मौलिक हैं, हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनमें किसी प्रसिद्ध रूढ़ि का या किसी प्रसिद्ध कवि की उक्ति की छाया नहीं है। मध्यकालीन काव्य में मौलिकता ढूँढ़ने का यह तरीका ठीक नहीं है। क्योंकि मौलिकता वस्तुओं के लिए नये उपमानों को ढूढ़ने में नहीं; बल्कि पुराने उपमानों को नये तरीके से कहने में दिखाई

पड़ती है। उदाहरण के लिए आँखों की उपमा भ्रमर से दी जाती है। मुख और आँख के एकत्र चित्रण में मुख को कमल और आंखों को भ्रमर कहते हैं। किन्तु यह दृश्य का बारीक चित्रण नहीं कहा जा सकता। विद्यापति पहले तो मुख की छवि को अभिधार्थ में ही व्यक्त करने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं। साधारण से साधारण शब्द जैसे नगीने की तरह जड़े होते हैं। सुन्दर मुख और सुन्दर आँखें—विद्यापति कहते हैं :

सहजहि आनन सुन्दर रे
भौंह सुरेखलि आँखि

मुँह तो 'सहज' सुन्दर है। सौन्दर्य का सबसे बड़ा गुण उसकी सहजता है। यह विशेषण विद्यापति ही दे सकते हैं। और आँखें जो भौंहों से सुरेखित हैं। 'भौंह सुरेखलि' आँख का प्रयोग ध्यान देने लायक है। विद्यापति को अब भी सन्तोष नहीं हुआ। मुख को कमल की तरह कह सकते हैं, और आँखों को भ्रमरों की तरह। किन्तु क्या 'भ्रमर' कह देने मात्र से चंचल बरौनियों वाली चपल आँखों की विशेषता का पूरा बोध हो जाता है? शायद नहीं। इसलिए विद्यापति ने लिखा है :

पंकज मधु पिवि मधुकर रे
उड़ए पसारलि पांखि

चंचल भ्रमर स्वभाव वश और आशंका से (यौवन के आगमन पर भय-आशंका का संचारी स्वतः उदित होता है) इस मधु को पीते हुए भी उड़-जाने की मुद्रा में पांखों को फैलाये हुए है—युवती की आँखें जैसे सुदूर गगन में उड़ जाना चाहती हैं। विद्यापति इस रूप के स्वभाव की व्यंजना भी अत्यन्त हल्के ढंग से; किन्तु अतीव गहन व्यंजना के साथ प्रस्तुत करते हैं :

ततहि धाओल दुहु लोचन रे, जतहि गेलि बर नारि
आसा लुबुध न तेजए रे, कृपनक पाछु भिखारी

जैसे आशा लुब्ध भिखारी कृपण का पीछा नहीं छोड़ता, वैसे उस सुन्दरी के पीछे-पीछे रूप-लुब्ध आँखें दौड़ गईं। कृपण सम्बोधन में नारी के रूप-शील की ओर संकेत है।

उपमानों का प्रयोग विद्यापति के काव्य में अत्यन्त रूढ़ ढंग से हुआ है। किन्तु कवि को जैसे इन उपमानों में आसक्ति नहीं है। चूँकि वह जिस वस्तु का वर्णन करना चाहते हैं, उसके लिए इन उपमानों का प्रयोग होता आ रहा है, इसलिए उन्होंने भी किया, किन्तु उनके मन में निरन्तर यह शंका है कि शायद माध्यम उपयुक्त नहीं है। वह रूप इससे ऊपर की वस्तु है। इसे इन शृंखलाओं में बाँधना ठीक नहीं, बाँधने का प्रयत्न भी किया जाये तो भी क्या यह अनिर्वचनीय रूप इन रूढ़ियों में बाँधा जा सकता है। इसीलिए प्रायः वे विरोधाभासों या प्रतीपों का प्रयोग करते हैं। उनका एक बहुत प्रसिद्ध गीत नीचे उद्धृत किया जाता है :

तोहर वदन सम चाँद होअथि नहिं
जइयो जतन विहि देल
कए बेरि काटि बनाओल नव कय
तइयो तुलित नहिं भेल
लोचन तूल कमल नहिं भय सक
से जग के नहिं जाने
से फेरि जाय लुकायल जल भए
पंकज निज अपमाने

इतना सब होते हुए भी उन्होंने पुराने उपमान का स्वच्छन्द व्यवहार भी किया है। विद्यापति के इन वर्णनों को समझने के लिए कवि-प्रसिद्धियों और कवि प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अप्रस्तुतों की पुरानी परिपाटी को समझना आवश्यक हो जाता है।[1] नखशिख वर्णन में उन्होंने सर्वत्र इसी पिटी हुई परिपाटी की शरण ली है। किन्तु विद्यापति ने इन रूढ़ उपमानों को भी नये ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने दृश्य के रूप, गुण और वर्ण तीनों ही दृष्टियों से अप्रस्तुतों के निर्वाचनों मे अपनी सहज प्रतिभा का परिचय दिया है। उदाहरण के लिए शरीर के वर्णन के लिए चन्द्रकला, शिरीषमाला. विद्युल्लता, तारा, कनकलता, दीपशिखा आदि प्रयोग साहित्य-शास्त्र में

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका के परिशिष्ट में कवि प्रसिद्धियों पर विचार किया गया है।

रूढ़ माने गए हैं।[१] विद्यापति ने भी शरीर के लिए इन्हीं का प्रयोग किया है :

(१) मेघमाल संय तड़ित लता जनि (पदावली[२], पद २८)
(२) जनि विजुरी रेह (पद २९)
(३) कनक लता अरविन्दा (पद १६)
(४) कनक लता अवलम्बन ऊअल (पद १८)

मुख की उपमा सर्वत्र चन्द्रमा या कमल से दी जाती है। विद्यापति ने भी प्रायः सर्वत्र उन्हीं उपमानों का प्रयोग किया है। केशों की उपमा शास्त्रकारों की दृष्टि से अन्धकार, शैवाल, मेघ, मयूरपुच्छ, भ्रमर-श्रेणी, चामर, यमुना-तरंग, नीलमणि, नीलकमल, आकाश, धूप, धूप का धूँआ इत्यादि से दी जानी चाहिए।[३]

(१) चिकुर गरए जलधारा
जनि मुख ससि डर रोवए अँधारा (पद २३)
(२) केस निगारइत बह जल धारा
चामर गरए जनि मोतिय हारा (पद २५)
(३) चिकुर गरये जल धारा

मेह वरिस जनु मोतिम हारा (पद २४)
(४) अलकहिं तीतल तैं अति शोभा
अलिकुल कमल बेढ़स मधुलोभा (पद २५)
(५) तापर सापनि झापल मोर (पद ३६)

इसी प्रकार आँखों की उपमा भ्रमर, मृग-नेत्र, कमल-पत्र, मत्स्य, खंजन, मेघ, चकोर आदि से दी जाती है। विद्यापति ने आँखों की उपमा प्रायः उपर्युक्त सभी उपमानों से दी है।[४] आँखों को उपमा यमुना-तरंग या केवल तरंगों से भी दी जाती है।[५]

१. अलंकार शेखर, १३।१।
२. पदावली, रामवृक्ष वेनीपुरी—सम्पादित।
३. कवि कल्पलता।
४. अलंकार शेखर, १३।६।
५. वही, १३।१५।

(१) कुटिल कटाख लाट पड़ि गेल
मधुकर डम्बर अम्बर लेल (पद ३०)
(२) लोचन तूल कमल नहि
(३) तापर चंचल खंजन जोर (पद ३६)
(४) बादल लोचन चोर
पिया मुख रुचि पिबए धाओल
जनि के चाँद चकोर (पद ३८)
(५) सावन घन सम झर दु नयान (पद ४०)
(६) नीर निरंजन लोचन राता
सिदुर मंडित जनु पंकज पाता (पद २५)

स्नान के बाद लाल हुई आँखों की उपमा केवल कमल-पत्र से नहीं दी। वैसे कमलपत्र भी लाल हो सकता है। किन्तु यहाँ श्वेत कमल-पत्र जो सिन्दूर मंडित हो ऐसा कहा। क्योंकि आँखें निरन्तर लाल नहीं रहती। श्वेत आँखें सद्यःस्नान के बाद लाल हैं। यह लाली सिन्दूर की तरह है। सिन्दूर शब्द का प्रयोग करके नायिका के सौभाग्य और सौन्दर्य का भी संकेत दे दिया है।

बराह मिहिर ने बन्धुजीव के समान लाल और अमांसल अधर को प्रशस्त बताया है। इन गुणों को ध्यान में रखकर अधरों के लिए प्रवाल, बिम्बफल, बंधूक पुष्प, पल्लव तथा मोठे पदार्थों से उपमा देने की प्रथा है।[1]

(१) विमल बिम्ब फल जुगल विलास (पद ३६)
(२) अधर बिम्ब अधजाई (पद १०)
(३) अधर बिम्ब सन दसन दाडिम विजु (पद १२)

अधरों के बारे में विद्यापति बहुत जागरूक नहीं है। वे तो मुख का वर्णन करने के बाद अधर, चिबुक और कंठ की बात छोड़कर कुचों के बारे में वर्णन करने लगते हैं। कुचों की उपमा देने में तो विद्यापति बेजोड़ हैं।

---

१. अलंकार शेखर, १३।७।

जाने कितनी प्रकार की उपमायें खटाखट उपस्थित होती चली आती हैं। यह उनके नखशिख वर्णन का सबसे आकर्षक और सबसे अधिक निर्बल पक्ष है। इसके वर्णन में उन्होंने जाने कितने गीत लिख डाले। कुचों की उपमा के लिए संस्कृत आलंकारिकों ने कुछ रूढ़ उपमान माने हैं। जैसे पूगफल, कमल, कमल कोरक, बिल्व, ताल, गुच्छ, हाथी का कुंभ, पहाड़, घड़ा, शिव, चक्रवाक, सौवीर, जम्बीर, बीजपूर, समुद्र, छालंग आदि।[1] वराहमिहिर ने वर्तुलाकृत घन, अविषम, और कठिन उरोजों की प्रशंसा की है।[2]

(१) पीन पयोधर दूबरि गता
मेरु उपजल कनक लता (पद १०)

(२) कुच जुग परसि चिकुर पुनि परसल
ता अरुझायल हारा
जति सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल
चाँद विहुन सब तारा (पद ११)

(३) मेरु उपर दुइ कमल फुलाइल (पद १२)

(४) जुगल सैल सम हिमकर देखल (प. १३)

(५) काम कम्बु भरि कनक संभु परि
ढारत सुरसरि धारा (पद १८)

(६) कुच उग कमल कोरक जल मुदि रहु (पद २०)

(७) कुच युग चारु चकेवा (पद २३)

(८) माजि धएल अनु कनक मुकुरे
तेइ उदसल कुच जोरा
पलटि बैठाओल कनक कटोरा (पद २४)

(९) सजल चीर रह पयोधर सीमा
कनक वेल जनि पड़ गेल हीमा (पद २५)

(१०) कुच जुग अरविन्द (पद २६)

---

१. वही, पृ० ४९।
२. बृहद्संहिता, ७०।६।

(११) कनक कमल हेरि काहे न लोभि (पद ३०)
(१२) कुच कुम्भे कहि गेल अप्प आस (पद ३०)
(१३) अम्बर विघटु अकामिक कामिनि
कर कुच झांपु सुछन्दा
कनक संभु सम अनुपम सुन्दर
दुई पंकज दस चन्दा (पद ३१)

यही नहीं, विद्यापति कुचों के विकास को संलक्ष्य करके भी अपनी उपमाओं की करामात दिखाते हैं। ऐसे स्थलों पर रूढ़ उपमाओं से उन्होंने आकार की दृष्टि से विकास-सूचक स्थितियों की कल्पना की है :

पहिल बदर कुच पुन नवरंग
दिन दिन वाढ़ए पिड़ए अनंग
से पुन भये गेल बीजल पोर
अब कुच बाढ़ल सिरफल जोर

वेर, नारंगी, वीजपूर तथा श्रीफल से इस क्रमिक विकास की सूचना दी गई है। लहराते हुए श्वेत आंचल से अनाच्छादित कुचों के लिए यह उपमा कितनी सुन्दर है। जैसे शरद के श्वेत घन पवन से पराभूत होकर पर्वत को व्यक्त करने के लिए विवश हो जायें :

उरहि अंचल झांपि चंचल
आध पयोधर हेरु
पौन पराभव सरद घन जनि
वेकत कएल सुमेरु

संस्कृत आलंकारिकों ने नाभि और कटि के सौन्दर्य के विषय में बताया है कि दक्षिणावर्त नाभि प्रशस्त होती है। इसके लिए रसातल, कूप, आवर्त, झील या ह्रद आदि की उपमायें चलती हैं।[1] नाभि के पास की हल्की श्यामल रोमावलियों का वर्णन भी कवि लोग करते हैं। इसकी मृदुता, श्यामता, सूक्ष्मता और नाभिगामिता को सुन्दर कहा गया है। नाभि के निचले भाग को बलि कहते हैं, त्रिबली का वर्णन कवि लोग करते हैं।

---

१. अलंकार शेखर, १३।१०।११।

इसकी उपमा लता, सोपान, नदी-तरंग, श्रेणी आदि से दी जाती है। कटि के वर्णन में सूई की नोंक, शून्य, अणु, सिंह की कटि, आदि उपमान गृहीत होते हैं। विद्यापति के कुछ प्रमुख प्रयोग नीचे दिये जाते हैं :

(१) कनक कदलि पर सिंह समारल (पद १२)

(२) गरु नितम्ब भर चलए न पारए
माझ खानि खीनि निमाई
भागि जाइत मनसिज धरि राखल
त्रिवलि लता अरुझाई (पद १३)

(३) नाभि विवर संय लोम लता वलि (पद १४)

(४) केहरि सम कटि गुन अछि सजनि गे
लोचन अम्बुज धारि
विद्यापति कवि गाओल सजनि गे
गुन पाओल अवधारि (पद १६)

जाँघों की उपमा कनक-कदली से बहुत रूढ़ हो गई है। चरण-तल कमल, पल्लव, किसलय, स्थल-पद्म से उपमित होते है। नाखूनों की उपमा चन्द्रमा से या ललाई की दृष्टि से प्रवाल से दी जाती है। नारी की गति के लिए हंस, हाथी आदि की चाल से उपमा दी जाती है। चरणों के जावक या महावर के वर्णन में ऊषा की लाली, अग्नि शिखा, पलाश पुष्प आदि की उपमायें दी जाती हैं। विद्यापति ने इन्हीं उपमाओं का सहारा लिया है :

(१) पल्लवराज चरन जुग सोभित
गति गजराज क भाने (पद १२)

(२) विपरित कनक कदलि तर सोभित
थल-पंकज के रूप दे (पद १३)

(३) हस्ति गमन जका चलइत सजनि गे
देखइति राजकुमारि (पद १६)

(४) चरन जावक हृदय पावक (पद ३२)

(५) लखन मदन सर पूरए रे

गति गंजए गजराज (पद ३२)

(६) जहाँ जहाँ पग धरई
तहिं तहिं सरोरुह भरई (पद २५)

(७) कमल जुगल पर चाँद का माला
(पैर और नख ज्योति, पद ३६)

विद्यापति के नखशिख-वर्णन की उपर्युक्त विवेचना से इतना स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने सर्वत्र प्रायः प्रसिद्ध रूढ़ियों या कवि समयों का प्रयोग किया है। एक बात अवश्य है कि उन्होंने इन रूढ़ उपमानों का प्रयोग करते वक्त भी एक आभिजात्य का परिचय दिया है। उन्होंने रूढ़ियों को अतिमात्रा में प्रयुक्त नहीं किया है इसीलिए उनके वर्णनों में रीतिकालीन कवियों के ऊहात्मक-चित्रण कम से कम मात्रा में दिखाई पड़ते हैं। दूसरी ओर राधा के सौन्दर्य-चित्रण में उन्होंने निरन्तर इस बात का ध्यान रखा है कि यह चित्रण कुरुचि उत्पन्न न करे। कहीं-कहीं वर्णन में विवृत्ति भी दिखाई पड़ती है, किन्तु ऐसे स्थलों पर नाक-भौं सिकोड़ने के पहले ख्याल रखना चाहिए कि यह वर्णन चौदहवीं शताब्दी के एक कवि ने प्रस्तुत किये हैं, जिस काल में इस प्रकार के चित्रण उपेक्षणीय या वर्ज्य नहीं थे। बीसवीं शताब्दी की मर्यादा का चश्मा लगाकर इन कवियों की रचनाओं में नैतिकता-अनैतिकता का सवाल उठाना बहुत उचित नहीं है। सब कुछ होते हुए भी, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उपमाएँ प्रायः अत्यन्त आकर्षक और वर्ण्य-वस्तु के सौन्दर्य को उद्घाटित करने वाली होती हैं। ऊपर के उदाहरणों में यदा-कदा मैंने संकेत दिये हैं। विद्यापति के इस गुण को संलक्ष्य करके बँगला के प्रसिद्ध समालोचक श्री दिनेशचन्द्र सेन ने लिखा है कि 'भारत-वर्ष में उपमा का यश केवल कालिदास को प्राप्त है। यदि किसी द्वितीय व्यक्ति का नाम लेना हो तो किसी को विद्यापति के नाम पर आपत्ति नहीं होगी। विद्यापति की राधा सौन्दर्य-समूह की चित्रपटी है। उनके विरह के अश्रुओं से सिक्त होकर कवि की कविता, उपमा और सौन्दर्य सब कुछ नवल मेघ की आभा धारण करता है।'[1]

---

१. बंग-भाषा ओ साहित्य, पृ० २२४।

मानवीय सौन्दर्य के इस चित्रण के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठता है। यदि विद्यापति वैष्णव कवि थे या कम से कम उनके मन में कृष्ण-भक्ति-भावना का लेश भी वर्तमान था तो उन्होंने इस प्रकार के रूपासक्ति-पूर्ण चित्रण क्यों प्रस्तुत किये ? पिछले अध्याय में हम इस समस्या पर, संक्षेप में विचार कर चुके हैं। विनयकुमार सरकार ने कुमारस्वामी की मान्यताओं का कि राधाकृष्ण का प्रेम रहस्यवादी है—खण्डन करते हुए यही प्रश्न उपस्थित किया था। उन्होंने लिखा है कि 'राधाकृष्ण प्रेम की पार्थिवता, शारीरिक सौन्दर्य के मांसल चित्रण तथा शृंगार के कलुषित ऐन्द्रिक चित्रों में हम किसी भी प्रकार की दिव्यता नहीं पाते। कुमार-स्वामी ने अपने को भ्रम में भुलाया है।'[१]

सूरदास के चित्रणों को, जो राधा और कृष्ण के शारीरिक सौन्दर्य का अति मांसल वर्णन प्रस्तुत करते हैं और जो प्रायः विद्यापति की शैली के सदृश या संभवतः उसी से प्रभावित होकर नखशिख-वर्णन की उसी प्राचीन रूढ़ परिपाटी में लिखे हुए हैं, हम शृंगारिक या भक्तिहीन क्यों नहीं कहते ? इसलिए कि उन्होंने अपने को कृष्ण का भक्त कहा है। यदि ऐसी बात है तो विद्यापति ने भी अपने को राधा और कृष्ण का भक्त बताया है। वस्तुतः यह विवाद ही मिथ्या है। वैष्णव कवि बहुत पहले से रूपासक्तिपूर्ण काव्य लिखते आ रहे हैं। नखशिख-वर्णन कभी भक्ति में बाधक नहीं हुआ है।

द्विवेदी जी ने अपने निबंध 'वैष्णव कवि की रूपोपासना' में एक स्थान पर लिखा है कि "वैष्णव कवि कल्पना और भक्ति को दो चीज समझता है। जहाँ उसकी कल्पना रुक जाती है, अर्थात जब रूप मोहन हो उठता है, जहाँ सारी चित्त-वृत्ति मुग्ध हो जाती है, वहीं उसकी भक्ति शुरू हो जाती है। कवि वैष्णव (बिहारी आदि) कल्पना के ऊँचे स्तर पर पहुँच कर रुक जाते हैं जहाँ वह हतचेष्ट हो जाती है, मुग्ध हो जाती है। भक्त वैष्णव और आगे बढ़ता है और अपनी चरम उपासना आत्म-निवेदन में

---

१. Love in Hindu literature, 1916. Page 20-21.

अपना सर्वस्व आहुति कर देता है।"[1] मैंने विद्यापति के 'अपरूप' के सिलसिले में कहा था कि वह पार्थिव सौन्दर्य से ऊपर की वस्तु है। विद्यापति इस अपरूप को ही अपना ईश्वर मानते हैं, अपनी सिद्धि मानते हैं। वे इस अपरूप के सामने समर्पण नहीं कर देते; बल्कि इसे जानने की निरन्तर अतृप्त इच्छा से चालित रहते हैं। उनकी सौन्दर्य-कल्पना न तो विहारी आदि की तरह थकती है और न तो सूर की तरह समर्पण कर देती है; विद्यापति कृष्ण या राधा के सौन्दर्य की अतिशयता को अनिर्वचनीय कह कर उस पर सूर की तरह बलि-बलि नहीं जाते; बल्कि इस सौन्दर्य को निरन्तर नाना रूपों में निरखते रहने की इच्छा से ही इसकी अर्चना किया करते हैं। विद्यापति रूप के सजग द्रष्टा हैं। बहुत से आलोचक नखशिख-वर्णन को हेय दृष्टि से देखते हैं क्योंकि उसमें मानव सौन्दर्य का खण्डशः वर्णन ही प्रस्तुत हो पाता है। यह धारणा उचित नहीं है। विद्यापति ने सौन्दर्य के प्रत्येक पक्ष का—स्थूल दृष्टि से कहें तो नखशिख का वर्णन सौन्दर्य को खण्डित करके नहीं; बल्कि उसके प्रत्येक हिस्से को उद्भासित करके उसकी समग्रता का बोध कराने के लिये किया है। प्रकृति के सर्वोत्तम पदार्थों से नारी के शरीर के प्रत्येक अंग की समता नहीं श्रेष्ठता दिखाकर कवि उसके पार्थिव रूप को और अधिक शालीन और स्वस्थ ढङ्ग से उपस्थित करना चाहता है। मैंने शुरू में ही कहा कि विद्यापति रूप के पार्थिव बन्धन मे बँधे हुए कवि नहीं हैं, यदि वे मांसल रूप के बन्धन में बँधे होते तो जन्म भर उसे देखते हुए भी अतृप्ति की बात न करते। वस्तुतः वे इस तमाम खण्डित रूप-तत्त्वों के बीच प्रवहमान अखण्ड रूप-तत्त्व के दर्शन की कामना लेकर चले थे।

●

---

१. मध्यकालीन धर्म साधना।

प्रकृति-परिवेश

प्रकृति पुरुष की चिर सहचरी है। मानव-जीवन को नाना रूपों मे प्रभावित करने वाली, उसे चेतना और प्रेरणा प्रदान करने वाली मायाशक्ति के रूप में प्रकृति की भारतीय वाङ्मय मे अभूतपूर्व अभ्यर्थना हुई है। प्रकृति और पुरुष के युगनद्ध रूप में दोनों के पारस्परिक सम्बन्धा के सन्तुलन तथा सहयोग मे जीवन की सफलता बताई गई है। मनुष्य अपने व्यक्तिनिष्ठ स्वार्थ से वशीभूत होकर जब-जब प्रकृति को पराजित करने के उद्देश्य से परिचालित हुआ है तब-तब उसकी शान्ति और समृद्धि का ह्रास हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि "काव्य का चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना है, उसके साधन में अहंकार का त्याग आवश्यक है, जब तक इस अहंकार से पीछा न छूटगा तब तक प्रकृति के सब रूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते।" भारतीय कवियों ने इस सत्य को सदा स्वीकार किया था। परिणामतः ऋग्वैदिक मंत्रों से लेकर वर्तमान युग के गीति-काव्यों में इस प्रकृति की शान्ति, समृद्धि और शक्ति का मनोरम चित्रण भरा हुआ है।

विद्यापति के काव्य मे भी यह प्रकृति अत्यन्त सजीव रूप में उपस्थित हुई है। प्रकृति या वातावरण के प्रति जागरूकता कलाकार का एक अनिवार्य गुण-धर्म है। इस जागरूकता के आधार ही हम कलाकार के प्रकृति-पर्यवेक्षण का मूल्यांकन कर सकते हैं। प्रकृति के चित्रण में लेखक की रुचि और संस्कार का बहुत बड़ा असर होता है। सच तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति को अपने-अपने ढंग से देखता है। चिर नावीन्य का अर्थ ही है दृष्टिकोण की भिन्नता और उसका क्षण-क्षण परिवर्तन। एक ही कवि किसी वस्तु को एक क्षण में 'कुछ' देखता है और किसी

दूसरे क्षण में कुछ। प्रकृति का यह निरीक्षण लेखक के सौन्दर्य-बोध (Sense of beauty) से निश्चित अनुचालित होता है। मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्रियों ने इसी आधार पर सौन्दर्यशास्त्र के दो मुख्य उद्देश्य बताये हैं। पहला सौन्दर्य का उपभोग और उससे आनन्द की उपलब्धि, दूसरा सौन्दर्य का निर्माण यानी सौन्दर्य को जन्म देने वाली भावना (Art impulse) का उदय। इस प्रकार सौन्दर्य-बोध के वास्तविक विश्लेषण का अर्थ है कलाकार की सौन्दर्य-ग्राहिका प्रवृत्ति का विश्लेषण। प्रवृत्ति का पता दो प्रकार से चलता है। खास वस्तुओं में लेखक की दिलचस्पी से और प्रकृति के प्रति या सौन्दर्य के आधार के प्रति उसकी जागरूकता से। दिलचस्पी या किसी खास वस्तु के प्रति लेखक की रुझान की जानकारी उसकी रुचि का पता देती है। प्रत्येक मनुष्य उत्तम से उत्तम सौन्दर्य की वस्तु से केवल उतना ही आनन्द प्राप्त कर सकता है जितना उसकी योग्यता या पात्रता के द्वारा प्राप्त हो सकता है। कवि या कलाकार की श्रेष्ठता इसी बात में निर्भर करती है कि वह सौन्दर्य के किस रूप की, और कितने ऊँचे स्तर के रूप की, अभ्यर्थना करता है। यहीं पर कलाकार के लिए कल्पना और यथार्थ का प्रश्न उपस्थित होता है। विश्व में उपलब्ध सौन्दर्य हमारी व्यक्तिगत सीमाओं के कारण हमें खण्डशः ही प्राप्त होता है या जो कुछ प्राप्त होता है वह हमारे सम्पूर्ण आवेश के सामने खण्डित ही प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में कवि या लेखक कल्पना के आधार पर इसे पूरा करने का, अपनी रुचि और कलात्मक रुझान के मुताबिक सम्पूर्णता प्रदान करने का प्रयत्न करता है। काण्ट ने इसी आधार पर कल्पना को एक व्यापक अर्थ प्रदान करते हुए कहा कि "कल्पना एक दूसरी प्रकृति का निर्माण करती है, उन्हीं तमाम साधनों से, जो उसे वास्तविक प्रकृति द्वारा प्राप्त होते हैं। अपनी रुचि और समझ के मुताबिक कवि भावों के नाना रूपों की सहायता और कल्पना के उन्मुक्त प्रयोग के आधार पर एक ऐसी पूर्ण वस्तु का निर्माण करता है जिसके समानान्तर कोई दूसरी वस्तु प्रकृति में उपलब्ध नहीं हो सकती।"

सौन्दर्य-बोध की उपयोगिता के बारे में आध्यात्मवादी आलोचकों ने एक दूसरे ढंग से भी विचार किया है। उनका कहना है कि प्रकृति अराजकता का समूह नहीं है, उसके प्रत्येक स्पन्दन में एक निश्चित नियम या ऋत की प्रेरणा कार्य करती है। कवि या लेखक प्रकृति के अन्दर निहित इसी सत्य का अन्वेषण करता है। प्रकृति स्वतः एक महत्कला है। साहित्य ससीम और असीम के बीच की कड़ी है। कवि अपनी सीमित शक्ति से प्रकृति के खण्डशः प्रस्तुत चित्रों के माध्यम से अखण्ड सत्ता को अभिव्यक्ति करता है। कवि प्रकृति की सारी सम्पदा को अपना साधन बनाकर सार्वभौम अदृश्य सत्ता को व्यक्त करता है। विद्यापति ने प्रकृति के नाना उपकरणों को—उसके सौन्दर्य के विविध आकर्षणों को इसी दृष्टि से देखा था। 'मध्ययुगेर साधना' में श्री क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि "चण्डीदास दुनिया के ऊपर के पक्षी हैं, जहाँ लौकिक सौन्दर्य बिखर जाता है, किन्तु वहाँ स्वर्ग छूता है, विद्यापति दिन भर धूप से स्नात गुफाओं, पुष्पित उद्यानों में घूमते हैं और शाम को उनकी लालसा इतनी ऊपर उठ जाती है कि वे प्रथम कवि को लाँघ जाते हैं।" प्रकृति विद्यापति के काव्य में दो प्रकार से उपस्थित होती है। कहीं तो वह आलम्बन या वर्ण्य विषय के रूप में दिखाई पड़ती है, कहीं वह मात्र उद्दीपन बनकर आती है। हमारे देश में ऋतुओं का विवरण प्रकृति के समष्टिगत विवरण में प्रासंगिक रूप से किया जाता था। वैदिक मन्त्रों में ऋतु या प्रकृति का चित्रण आलम्बन के रूप में ही होता था, वह स्वयं वर्ण्य थी, आकर्षण और सौन्दर्य की अधिष्ठात्री होने के कारण। यह बात दूसरी है कि सर्वत्र वैदिकऋषि आह्लादयुक्त भाव से ही उसका चित्रण नहीं कर पाता था। उसे प्रकृति के उग्र रूप का अनुभव था, और इस प्रचंड-भीमा प्रकृति की उग्रता से भयातुर होकर भी वह उसकी स्तुति करता था। वाल्मीकि के काव्य में भी प्रकृति प्रधान रही। कालिदास तो निसर्ग के कवि ही कहे जाते हैं। कालिदास के ऋतुसंहार काव्य को देखने से ऐसा लगता है कि यद्यपि प्रकृति उनके लिए मानवीय रति या शृंगार के उद्दीपन का मात्र

साधन बनकर ही नहीं रह गई है, फिर भी उसमें स्वाभाविकता और यथार्थ का अभाव दिखाई पड़ने लगता है। वस्तुओं के विवरण में रूढ़ियों का प्रभाव गाढ़ा होने लगा था। शुक्ल जी का अनुमान है कि उद्दीपन के रूप में प्रकृति के चित्रण की परिपाटी तभी से आरम्भ हुई है। उन्होंने लिखा कि ऐसा अनुमान होता है कि "कालिदास के समय से या उसके कुछ पहले से ही दृश्य-वर्णन के सम्बन्ध मे कवियों ने दो मार्ग निकाले। स्थल-वर्णन में तो वस्तु-वर्णन की सूक्ष्मता कुछ दिनों तक वैसी ही बनी रही, पर ऋतु-वर्णन में चित्रण उतना आवश्यक नहीं समझा गया जितना कुछ इनी-गिनी वस्तुओं का कथन-मात्र करके भावों के उद्दीपन का वर्णन। जान पड़ता है कि ऋतु-वर्णन वैसे ही फुटकल पद्यों के रूप में पढ़े जाने लगे जैसे 'बारहमासा' पढ़ा जाता है।"[1]

षड्ऋतु और बारहमासा

अभाग्यवश मध्यकालीन काव्य में प्रकृति-चित्रण का रूप अत्यन्त कृत्रिम और रूढ़िग्रस्त हो गया। षड्ऋतु के वर्णन में कवि की दृष्टि प्रकृति के यथार्थ रूप पर आधारित न होकर आचार्यों द्वारा निर्मित नियमों और कवि-समयों से परिचालित होने लगी। कवियों के लिए बना बनाया मसाला दिया जाने लगा, उनका कार्य केवल घरौंदे बना देना रह गया। काव्य-मीमांसा में काल-विभाग के अन्तर्गत इस प्रकार का पूरा विवरण एकत्र मिल जाता है। राजशेखर ने तो यहाँ तक कह दिया कि देश-भेद के कारण पदार्थों में कहीं-कहीं अन्तर आ जाता है; किन्तु कवि को कवि-परम्परा के अनुसार ही वर्णन करना चाहिए। देश के अनुसार नहीं :[2]

देशेषु पदार्थानां व्यत्यासो दृश्यये स्वरूपस्य
तन्न तथा वध्नीयात्कविबद्धमिह प्रमाणं नः

अर्थात् कवि की अपनी अनुभूतियों और निरीक्षण-उपलब्धियों का कोई मूल्य नहीं।

१. चिन्तामणि, दूसरा भाग, काशी, सम्वत् २००२, पृ० २१।
२. काव्य मीमांसा, पटना, १९५४, पृ० २६२।

विद्यापति के पहले इस काव्य प्रकार में कई रचनायें लिखी गई हैं। ब्रजभाषा की अवहट्ट या पिंगल शैली में भी और आरम्भिक शुद्ध ब्रजभाषा में भी। इनमें सन्देशरासक का षड्ऋतु-वर्णन, प्राकृतपैंगलम् के स्फुट ऋतु-वर्णन के पद, पृथ्वीराजरासो का षड्ऋतु-वर्णन, नेमिनाथ चौपई का बारह-मासा आदि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। सन्देशरासक और पृथ्वीराजरासो के षड्ऋतु-वर्णन उद्दीपन के रूप में ही दिखाई पड़ते हैं। सन्देशरासक का ऋतुवर्णन विरहिणी नायिका के हृदय के दग्ध उच्छ्वासों से परिपूर्ण है। पथिक उस प्रोषितपतिका से उसकी दिनचर्या पूछता है, वह जानना चाहता है कि कब से नूतन मेघरेखा से विनिर्गत चन्द्रमा के समान, नायिका का निर्मल वदन इस प्रकार विरह-धूम से श्यामल हो रहा है। और तब नायिका एक वर्ष पहले ग्रीष्म ऋतु मे विदा होने वाले प्रियतम के वियोग का सविस्तर वर्णन सुना जाती है। सन्देशरासक का ऋतु-वर्णन कविप्रिया के अनुसार निश्चित वस्तुओं की सूची उपस्थित करता है, इसमें शक नहीं, किन्तु जैसा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'जायसी की भाँति अद्दहमाण के सादृश्यमूलक अलंकार और बाह्य-वस्तु निरूपक वर्णन बाह्यवस्तु की ओर पाठक का ध्यान न ले जाकर विरह-कातर विरहिणी के मर्मस्थल की पीड़ा को अधिक व्यक्त करता है।'[1]

रासो का ऋतु - वर्णन यद्यपि विरहशंकिता नायिकाओं के हृदय को पीड़ा को व्यंजित करने के उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया है; किन्तु इन पदों में संयोगकालीन स्मृतियों की विवृति दिखाई पड़ती है, इसीलिए इसे हम संयोगकालीन उद्दीपन ऋतुवर्णन की प्रथा का ही निदर्शन कहेंगे। संयोगिता से मिलने के लिए उत्सुक पृथ्वीराज जयचन्द के यज्ञ मे उपस्थित होना चाहते हैं, वे प्रत्येक रानी के पास विदा लेने के लिए जाते है, किन्तु रानियों का ऐसे ऋतु में बाहर न जाने का मधुर आग्रह वे टाल नहीं पाते और रुक जाते हैं। रासो के ऋतुवर्णन की विशेषताओं पर डॉ० हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने विस्तार से विचार किया है।[2] प्राकृतपैंगलम् एक पिंगल

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, १९५२, पटना, पृ० ८४।
२. वही, पृ० ८२-८३।

काव्य है इसलिए छन्दों के उदाहरण के लिए उसमें पद्य संकलित किये गए हैं। उसमें पूर्णता के साथ षड्ऋतु वर्णन का मिलना कठिन है। किन्तु इस काव्य में स्थान-स्थान पर प्रकृति का जो चित्रण मिलता है, खास तौर से ऋतुओं का चित्रण, वह निश्चय ही किसी अज्ञात-ज्ञात काव्य के ऋतु-वर्णन प्रसंग से लिया गया है। उदाहरण के लिए वसन्त ऋतु का एक चित्रण देखिए :

फुल्लिअ केसु कम्प तंह पअलिअ मंजरि तेजिअ चूआ
दक्खिन वाउ सीअ भइ पवहइ कम्प विओइणि हीआ
केअइ धूलि सब्ब दिसि पसरइ पीअर सव्वउँ भासे
आउ वसन्त काइ सहि करिअइ कन्त ण थक्कइ पासे

(प्राकृतपैंगलम्, पृ० २१२)

प्राकृतपैंगलम् के एक और पद में (पृ० ५८९, पद २१३) ऋतु-सम्बन्धी बड़ा सुन्दर-वर्णन मिलता है। इस पद में शिशिर के बीतने और वसन्त के आगमन का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है। प्राकृतपैंगलम् में ऐसे ऋतु-वर्णन वाले पदों की विशेषता यह है कि इनमें प्रकृति उद्दीपन के रूप में चित्रित होते हुए भी कालिदास के ऋतुसंहार की परम्परा में है अर्थात् केवल उद्दीपन-मात्र ही नहीं है, प्रकृति के सौन्दर्य का चित्रण भी अभीष्ट रहा है।

नेमिनाथ चतुष्पदिका[१] और नरहरि भट्ट के ऋतु वर्णन बारहमासा पद्धति में लिखे हुए हैं। नेमिनाथ चौपई में राजमती के विरह का सविस्तर वर्णन मिलता है। नेमिनाथ के वियोग में उनकी परिणीता राजमती आषाढ़ से आरम्भ करके ज्येष्ठ तक के बारह महीनों की अपनी विरह-पीड़ा तथा नेमि की कठोरता का विवरण अपनी सखि का सुनाती है। नेमिनाथ चतुष्पदिका के प्रसंग पीछे दिये हुए हैं। षड्ऋतु और बारहमासा सम्बन्धी रचनायें गुजराती, राजस्थानी तथा हिन्दी की विभिन्न बोलियों मे प्राप्त होती हैं। इन रचनाओं की वस्तु तथा भाव-धारा का विश्लेषण करने पर मालूम होता है कि इसमें षड्ऋतु वर्णन मूलतः संयोग-शृंगार का काव्य

---

१. गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, नम्बर १३, १९२६, बड़ौदा।

है जब कि बारहमासा विरह या विप्रलंभ का। वैसे सन्देशरासक में षड्ऋतु का वर्णन विरहप्रधान है जो इस मान्यता के विरुद्ध मे दिखाई पड़ता है, किन्तु अधिकांश रचनाओं से उपर्युक्त मत की पुष्टि ही होती है। षड्ऋतु का चित्रण रासो में संयोग-काव्य की प्रथा में ही हुआ है। पद्मावत में षड्ऋतु और बारहमासा दोनों ही के प्रसंग आते हैं। षड्ऋतु वर्णन खण्ड में पद्मावती और रतनसेन के संयोग-शृंगार का चित्रण हुआ है। ठीक उसी के बाद आने वाले नागमती वियोग खण्ड में नागमती के विरह का वर्णन बारहमासा की पद्धति पर प्रस्तुत किया गया है। इसी को संलक्ष्य करके आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'प्राप्त प्रथा के अनुसार पद्मावती के संयोग सुख के सम्बन्ध में षड्ऋतु और नागमती की विरह वेदना के प्रसंग मे बारहमासा का चित्रण किया गया है।'[1] नेमिनाथ चतुष्पदिका तथा नरहरि भट्ट के बारहमासे मे भी वियोग-वेदना की अभिव्यक्ति की गई है। विद्यापति ने भी विरह का चित्रण बारहमासे की पद्धति पर किया है :

मोर पिया सखि गेल दुर देस
जौवन दए गेल साल सनेस
मास असाढ़ उनत नव मेघ
पिया विसलेस रह्यों निरथेघ
कौन पुरुष सखि कौन सो देस
करब माय तहाँ जोगिनी वेस

आषाढ़ के नवीन मेघों के उनय आने से प्रिय-विश्लेष दुःख की काली छाया निरन्तर घनी होती जा रही है और पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश को सूनी आँखों से देखते-देखते अपने ताप से जगत् को धूलिसात् कर देने वाला जेठ आ जाता है। विद्यापति ने अत्यन्त कौशल से विरह की इस करुण वेदना को बारहमासा में अंकित किया है।[2] सूरदास ने बारहमासे की शैली

---

१. चिन्तामणि, द्वितीय भाग, सम्वत् २००२, काशी, पृ० २६।
२. विद्यापति पदावली, रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा सम्पादित, द्वितीय संस्करण, पृ० २७१।

में अलग से कोई काव्य नहीं लिखा, किन्तु गोपी-विरह में इस शैली की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। ब्रजभाषा के परवर्ती लेखकों ने षड्ऋतु और बारहमासे की पद्धति में कई काव्य लिखे। सेनापति (सम्वत् १६४६) का ऋतुवर्णन अपनी अत्यन्त सूक्ष्म प्रकृति निरीक्षण की कुशलता तथा भाषा से स्वाभाविक प्रवाह के लिए प्रसिद्ध है। सम्वत् १८८८ में सुन्दर कवि ने तथा १८११ में हंसराज ने बारहमासों की रचना की।

इन बारहमासों में प्रकृति का चित्रण प्रायः आषाढ़ मास से आरम्भ होता है। षड्ऋतु में ऋतु का आरम्भ ग्रीष्म ऋतु से दिखाया जाता है। ऋतु-संहार में इसी पद्धति को अपनाया गया था। किन्तु इन नियमों के अपवाद भी कम दिखाई नहीं पड़ते हैं। उदाहरण के लिए गुजराती में अठारहवीं शती में लिखा इन्द्रावतीकृत षड्ऋतु वर्णन वर्षा से आरम्भ होता है। उसी प्रकार गुजराती के दूसरे कवि श्री दयाराम ने सम्वत् १८४५ में लिखे गए षड्ऋतु-विरह-वर्णन-काव्य में ऋतु का आरम्भ वर्षा से किया है।[१] षड्ऋतु में जायसी ने ऋतु का आरम्भ वसन्त से किया है :[२]

> प्रथम वसन्त नवल ऋतु आई, सुऋतु चैत बैसाख सुहाई।
> चन्दन चीर पहरि धरि अंगा, सेंदुर दीन्ह विहंसि भर मंगा॥

सन्देशरासक में षड्ऋतु-वर्णन का आरम्भ ग्रीष्म ऋतु से ही होता है। बारहमासे प्रसंग में आषाढ़ से आरम्भ की पद्धति प्रायः सर्वमान्य दिखाई पड़ती है।

कविप्रिया में केशवदास ने १०वें प्रभाव में बारहमासा का वर्णन चैत्र से किया है, जो फाल्गुन में समाप्त होता है। ७वें प्रभाव में षड्ऋतु का वर्णन वसन्त ऋतु से हुआ है।[३] अलंकारशेखर में १६वें मरीचि में

---

१. गुजराती साहित्य नां स्वरूप, पृ० २५८–६०।
२. जायसी ग्रन्थावली, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, १६८१ सम्वत्, षड्ऋतु वर्णन खण्ड, दोहा ५।
३. कविप्रिया, केशव ग्रन्थावली, खण्ड १, सम्पादक विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग १६५४, पृ० १५७–१६० तथा १३६–१३८।

षड्ऋतु-वर्णन सुरभि ऋतु यानी वसन्त से ही शुरू होता है।[१] वैसे भी इस देश में नव वर्ष का आरम्भ भिन्न-भिन्न महीनों में माना जाता है। राजशेखर के अनुसार ज्योतिषशास्त्रवेत्ता सम्वत्सर का आरम्भ चैत्र मास से यानी वसन्त ऋतु से तथा लौकिक व्यवहार वाले श्रावण से मानते हैं। 'सच चैत्रादिरिति दैवज्ञः श्रावणादिरिनि लोकयात्राविदः (काव्यमीमांसा, १८-वाँ अध्याय)।' इसी आधार पर राजशेखर ने जो ऋतुओं का क्रम बताया है वह वर्षा से आरम्भ होता है। वर्षा, शरत्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म।[२] यहाँ पर वर्षारम्भ की पद्धति वही है जिसे गुजराती कवियों ने स्वीकार किया है। लगता है कि राजशेखर के काल में भी इस क्रम में व्यत्यय होता था, इसीलिए उन्होंने यह व्यवस्था दी है कि ऋतुक्रम में व्यत्यय करने से कोई दोष नहीं पैदा होता, हाँ इतना अवश्य है कि वह प्रसंगानुकूल हो :[३]

न च व्युत्क्रमदोषोऽस्ति कवेरर्थपथस्पृशः
तथा कथा कापि भवेद् व्युत्क्रमो भूषणं यथा।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम षड्ऋतु और बारहमासा के सम्बन्ध में निम्नलिखित विशेषताएँ निर्धारित कर सकते हैं :

(१) दोनों ही उद्दीपन के निमित्त व्यवहृत काव्य प्रकार हैं; किन्तु सामान्यतः षड्ऋतु का वर्णन संयोग शृंगार में और बारहमासे का विरह में होता है। इन नियमों का पालन बड़े शिथिल ढंग से होता है, अतः अपवाद भी मिलते हैं।

(२) षड्ऋतु वर्णन ग्रीष्म ऋतु से आरम्भ होता है, बारहमासे की पद्धति के प्रभाव के कारण कई स्थानो पर वर्षा से भी आरम्भ किया गया है। बारहमासा प्रायः आषाढ़ महीने से आरम्भ होता है।

(३) इन काव्यों की पद्धति बहुत रूढ़ हो गई है। कवि-प्रथा का पालन बहुत कड़ाई से होता है, इसलिए मौलिक उद्भावना की कमी दिखाई पड़ती है

१. श्री माणिक्य चन्द्रकारित श्री केशवमिश्र कृत अलंकार शेखर, सम्पादक शिवदत्त, बम्बई, १९२६, पृ० ५९।
२. राजशेखर, काव्यमीमांसा, पटना, १९५४, पृ० २३८।
३. वही, पृ० २९३।

जैसा कि पहले ही निवेदन किया गया है, विद्यापति के प्रकृति-वर्णन दो श्रेणियों में रखे जा सकते हैं, (१) वर्ण्य वस्तु के रूप में, (२) उद्दीपन के रूप में ।

प्रथम प्रकार के वर्णन में ऋतुओं का वर्णन या प्रकृति के किसी खास रूप का वर्णन कवि ने उसकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करते हुए प्रस्तुत किया है किन्तु उसे पूर्णतया प्रकृति का आलम्बन के रूप में चित्रण नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए वसन्त का कई पदों में स्वतन्त्र वर्णन हुआ है, कवि ने वसन्त को कहीं बालक रूप में, कहीं तरुण रूप में और कई स्थानों पर राजा के रूप में चित्रित किया है, ऐसे प्रसंगों में उन्होंने प्रकृति को मनुष्य की भावनाओं की दासी तो नहीं बनाया किन्तु इन वर्णनों में प्रायः मानवीय भावों का आरोप किया गया है और इनकी सुन्दरता या उन्मादकारिता का मुख्य कारण मानव हृदय को आह्लादित करने की शक्ति को ही बताया है। इसलिए वसन्त के जितने विशेषण हैं वे सभी मनुष्य के मन को प्रसन्न करने वाले गुणों के द्योतक हैं—जैसे आयल उन्मद समय वसन्त, या आएल वसन्त सकल जन रंजक, या आएल वसन्त सकल रस मण्डल, आदि। हाँ, वसन्त वर्णन मे अभिव्यक्ति उल्लास की शक्ति को देखते हुए इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि कवि के मन में प्रकृति के प्रति स्वाभाविक आकर्षण और अकृत्रिम रुझान दिखाई पड़ती है। वसन्त राजा की भाँति वनस्थली में प्रवेश करता है, राजा के सम्मान के नवोत्पन्न पत्तों ने सिंहासन स्थापित किया, कांचन कुसुमों ने माथे पर छत्र रखा, आम्र-मुकुल शिरोभूषण हुआ, पक्षी कलकल ध्वनि में आशीर्वाद का उच्चारण कर रहे हैं, कुसुम पराग श्वेत चँदोवे की तरह छा गया। तरु ने कुन्दलता की पताकाएँ फहरा दीं :

नृप आसन नव पीठल पात
कांचन कुसुम छत्र धरु मात
मौलि रसाल मुकुल भेल ताय
सुमुख कि कोकिल पञ्चम गाय

सिखि कुल नाचत अलि कुल जंत्र
द्विज कुल आन पढ़ आसिख मंत्र
चन्द्रातप उड़े कुसुम पराग
मलय पवन सह भेल अनुराग
कुन्द वल्ली तरु धएल निशान
पाटल तूण अशोक दलवान

कवि वसन्त के स्वागत मे मत्त मयूर की तरह नाच उठता है। इन कविताओं में प्राचीन कवियों का प्रभाव स्पष्ट है । उदाहरण के लिए जयदेव ने गीतगोविन्द मे वसन्त का वर्णन करते हुए उन्मद मदन महीपति के बारे में प्रायः उपर्युक्त बातें ही लिखी है :

मृगमदसारभरभसवंशवद नव दल माल तमाले
युव जन हृदय विदारण मनसिज नख रुचि किंशुकजाले ॥४॥
मदन महीपति कनकदण्ड रुचि केसर कुसुम विकासे
मिलित शिलीमुख पाटलपटल कृतस्मर तूण विलासे ॥५॥

(गीतगोविन्द काव्यम्, पहला सर्ग)

वसन्त के वर्णन में विद्यापति ने एक आत्मीयता और निकटता का भाव संयोजित कर दिया है। वसन्त उनके लिए जैसे विदेश से लौटा हुआ कोई परिजन है, स्वजन जिसके स्वागत मे लाज-संकोच की आवश्यकता नहीं । वे हृदय की सम्पूर्ण उच्छ्वासों के साथ ऋतुराज के स्वागत मे खड़े हैं :

नाचहु रे तरुनि तजहु लाज
आएल वसन्त ऋतु बनिक राज

एक दूसरे स्थान पर उनकी नायिका अपनी सखियों से वसन्तराज का 'चुमावन' करने को कहती है। उसने वसन्त को बैठने के लिए नवीन किसलयों का आसन दिया, धवल कमल मांगलिक कलश के रूप में स्थापित किया। मकरन्द ही मन्दाकिनी का पवित्र जल है, अरुण अशोक के दीप जलाए । आज पुण्य दिवस है, वसन्तराज का वरण करो। पूर्ण चन्द्र

मांगलिक दधि है (दधि-तिलक की उपमा चन्द्रमा से दी है), भ्रमरी ने दौड़कर सबको बुलाया, किशुंक के फल ने सिन्दूर प्रदान किया, केतकी को धूल (पराग) वस्त्र की तरह छा गई :

अभिनव पल्लव बइसक देल
धवल कमल फुल पुरहल भेल
करु मकरंद मँदाकिनी पान
अरुन असोक दीप दहु आन
माइ हे आज दिवस पुनुमन्त
करिअ चुमावन राय वसन्त
सपुन सुधानिधि दधि भय गेल
भमि भमि भमरि हँकारइ देल
टेसु कुसुम सिन्दूर सम भास
केतिक धूल विथरहु पट वास
भनइ विद्यापति कवि कंठहार
रस बुझ सिवसिंह सिव अवतार

इस प्रकार के सांगरूपकयुक्त वर्णनों में कवि ने प्रकृति के विभिन्न उपकरणों का बहुत सूक्ष्म और बिम्बग्राही वर्णन प्रस्तुत नहीं किया है। ऐसे प्रसंगों की विशेषता इतनी ही है कि इनके द्वारा कवि के मन का एक अद्भुत उल्लास और प्रकृति को मानवीय रूपों में देखने की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति का पता चलता है। वसन्त को बालक, तरुण, दूल्हा, राजा आदि रूपों में रखकर उसका जो वर्णन किया गया है उसमे हमारे जीवन के लोकाचारों का पूरा निर्वाह किया गया है।

वसन्त के साथ कुछेक और ऋतुओं का भी स्वतन्त्र वर्णन हुआ है। पावस वर्णन में कवि ने उसकी भयंकरता का अच्छा चित्रण किया है :

आएल पाउस निविड़ अन्धकार
सघन नीर बरसय जलधार
घन हन देखियत विघटित रंग
पथ चलइत पथिकहु मन भंग

नदिया जोरा महु अथाह
भीम भुजंगम पथ चललाह

अभिसार के प्रसंगों में कवि ने रास्ते की बाधाओं आदि वर्णन के उद्देश्य से काली पावस रातों का प्रायः भयङ्कर वर्णन किया है। लेकिन उद्देश्य जो भी रहा हो, ऐसे वर्णनों में कवि की सूक्ष्म दर्शिता का पता भी चलता है :

जलद सरिस जलधार
काजरे रांगलि राति
भमए भजंगम भीम
पंके पुरल चौसीम
दिग मग देखिए घोर
पथर दिअ विजरी अजोर

प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन विद्यापति के काव्य में गौण है, मुख्य है उसका उद्दीपन के रूप में चित्रण ही। उद्दीपन के रूप में प्रकृति का चित्रण अत्यन्त रूढ़ कवि-व्यापार है, इसमें सन्देह नहीं किन्तु इस परिपाटी को मानने वाले कवि के लिए उसमें नूतन आकर्षण पैदा करना बहुत कठिन होता है। विद्यापति ने इस प्रकार के वर्णनों में अपनी निरन्तर जागरूकता, सूक्ष्मदर्शिता और संवेदनशीलता का बहुत अच्छा परिचय दिया है। विरहिणी के लिए प्रिय-विरह की बरसाती रातें कितनी दारुण हैं। भादों की काली रातों में विरहिणी के दुःख की सीमायें टूट जाती हैं। वह कहती है बादलों से भरा हुआ भादों—और प्रिय से रिक्त मेरा घर, इस असीम दुःख का कहीं अन्त नहीं। कवि ने वर्षा के साथ घटित घटनाओं, बादलों की गर्जन, झंझा, शंपापात, मत्त मयूर की आवाज से उत्पन्न ध्वनियों को शब्दों में बाँध कर विरहिणी-हृदय की विभिन्न परिस्थितियों से उनकी तुलना करके सम्पूर्ण प्रकृति को व्यक्ति के दुःख में लय कर दिया है :

सखि हे हमर दुखक नहिं ओर
ई भर बादर माह भादर, सुनू मंदिर मोर
झंपि घन गरजन्ति सन्तत
भुवन भरि बरसन्तिया

कन्त पाहुन काम दारुण
सघन खर सर हन्तिया

कुलिस कत सत पात मुदित
मयूर नाचत मातिया

मत्त दादुर डाक डाहुक
फाटि जायत छातिया

तिमिर दिग भरि घोर यामिनि
अथिर बिजुरि क पाँतिया

विद्यापति कह कइसे गमाओब
हरि बिना दिन रातिया

उद्दीपन के रूप में प्रकृति के उपकरणों के प्रयोग से मानवीय दुःख की इतनी तीव्र व्यंजना शायद ही कोई कवि कर सका हो। इस पद में कवि ने जैसे अपने हृदय को सारी घनीभूत पीड़ा को बिखेर कर रख दिया है। यह पद किसी राजा को समर्पित नहीं है, कवि ही इस दुःख का एक मात्र साक्षी है। इस कविता में ध्वन्यात्मक वस्तु-व्यापार और उनका मानवीय हृदय की अवस्थाओं से समानान्तर निर्वाह अद्भुत है। बादलों से गगन भरा है, और मेरा घर सूना है। वर्षा का उद्दाम रूप, साक्षात् आँखों के सामने खड़ा है। चमक, छायान्धकार का नर्तन, मयूरों और दादुरों की आवाजें, आँखों के पथ को घोर कालिमा से भर देने वाली रात—विरहिणी अपने पति के आने की बाट देखकर मन को झुठला भी तो नहीं सकती। और अस्थिर बिजली का प्रलय-नर्तन—यह सब कुछ विद्यापति के हृदय के आँसुओं में स्नात होकर यथार्थ की अनुपम आभा धारण किए हुए हैं।

विरह वर्णन के लिए कवि ने बारहमासा की पद्धति का भी प्रयोग किया है। विद्यापति के बारहमासा का आरम्भ आषाढ़ से होता है। आकाश में नवीन मेघ जलभार से झुके आ रहे हैं, विरहिणी का प्रिय इस दारुण ऋतु में न जाने कहाँ है, कुछ पता होता तो शायद वह योगिनी बन कर उसे ढूँढ़ने को निकल पड़ती :

मास असाढ़ उनत नव मेघ
पिया विसलेस रहओं निरथेघ

श्रावण में जब बादलों से भयकर जल-वृष्टि शुरू हो जाती है, अन्धकार के कारण पथ तक नहीं सूझता, चारों तरफ बिजली की रेखाएँ कौंधती रहती हैं, उस समय उसे अपने जीने में सन्देह ह ने लगता है :

साओन मास बरसि घन वारि
पंथ न सूझे निसि अंधियारि
चौदिसि देखिए बिजुरी रेह
हे सखि कामिनि जीवन संदेह

भादों की काली रातें, चारों तरफ मयूरों और दादुरों के रव से भर जाती हैं, सौभाग्यशाली युवतियाँ चौंक-चौंककर अपने प्रियतम की गोद में छिप जाती हैं। आश्विन में चित्त व्यर्थ की आशा धारण करता है कि प्रिय आयेंगे; किन्तु निष्करुण नाथ सुधि तक नहीं लेते, सरोवर में चक्रवाक-मिथुन क्रीड़ा करते है, किन्तु मेरे लिए यह मास ही शत्रु हो गया है। कातिक मास आया; किन्तु देशान्तर से कन्त नहीं आया। सबके लिए नवीन चन्द्र की ये रातें सुखपूर्ण हैं किन्तु हमें तो प्रिय ने दुःख की पीड़ा ही सौंपी है। अगहन मास तो निश्चय ही इस जीव का अन्त कर देगा। मुझ अकेली रमणी को यह विरहाग्नि प्रिय के आते न आते अवश्य जलाकर क्षार कर देगी :

पूस खीन दिन दीघरि राति
पिया परदेस मलिन भेल कांति
हेरओं चौंदिस झंखओं रोय
नाह विछोह काहु जन होय
माघ मास घन पड़ए तुसार
झिलमिल कंचुआ उनत थन हार
पुनमति सूतलि प्रियतम कोर
विधि बस दैव बाम भेल मोर

फागुन मास में धनि का जी उचाट हो गया, वह रो-रोकर पति की राह देखती रही, मत्त कोकिल ने पंचम स्वर में गाना आरम्भ कर दिया। चैत में प्रिय का प्रवास चौगुना अखरने लगा, चतुर माली फूलों का विकास समझता है, नागर जन होकर भी मेरे प्रभु असयान ही रहे :

वैसाखे तवे खर मरन समान
कामिनी कन्त हरए पंचबान
न जुड़ि छाहरि न सरिस वारि
हम जे अभागिनि पापिनि नारि
जेठ मास ऊजर नव रंग
कन्त चहए खलु कामिनी संग
रूप नरायन पूरबु आस
भनइ विद्यापति बारहमास

बिद्यापति के काव्य में प्रकृति का वर्णन इन्हीं दो रूपों में दिखाई पड़ता है। कवि ने विरह की अवस्थाओं म जाने प्रकृति को कितने रूपों में देखा है, सुख के दिनों में जो प्रकृति विद्यापति को चांदनी के मायाजाल में बांधे रही, भौंरों की गुंजार और फूलों की महक ने मन को उद्रेक और लालसाओं से भर दिया, उसी प्रकृति को उन्होंने विरह के दिनों में जाने कितने रूपों में रुलाया। उस पर व्यंग्य किया। किन्तु उनके मन में इस प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम सदैव वर्तमान था।

●

सामाजिक चेतना

समाज और कवि के सम्बन्धों पर काफी वाद-विवाद हुआ है। आलोचकों का एक वर्ग किसी कवि या लेखक की सफलता का सबसे बड़ा मानदण्ड उसकी सामाजिक चेतना को मानता है और उसके साहित्य के हर पहलू का अध्ययन समाज को परिपार्श्व में रखकर करना चाहता है। और ऐसी अवस्था में जब समाज में कई प्रकार की विचार-धारायें संघर्ष-रत हों, और प्रत्येक मतवाद के मानने वाले हर दूसरे को अस्वस्थ, प्रति-क्रियावादी और रूढ़ग्रस्त तथा विकास के प्रतिकूल कहते हों तो यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कौन कवि स्वस्थ सामाजिक प्रवृत्तियों का पोषक है और किसने अस्वस्थ और रुग्ण मानव-मन के चित्रण में ही अपना समय नष्ट किया है। कई बार एक कवि की रचनायें भी मतवादों के इस कुहा-जाल में पड़कर नाना प्रकार की मान्यताओं का शिकार हो जाती हैं। उदाहरण के लिये आधुनिक युग के किसी कवि को लीजिए। उसके साहित्य के अध्ययन करने वाले किन्हीं दो आलोचकों का मत मिलता नजर न आयगा। एक ही कवि को रचनाओं को कुछ आलोचक 'हाथीदांत की मीनार' में रहने वाला, समाज से दूर कुण्ठाग्रस्त व्यक्ति के दिमाग की उपज बतायेंगे, उन्हीं रचनाओं को दूसरे आलोचक समाज की यथातथ्य प्रवृत्तियों का आईना, स्वस्थ समाज का निर्माण करने वाली और सामाजिक यथार्थ को सही रूपों में चित्रित करने वाली बतायेंगे। आधुनिक युग के समसामयिक कवि को परस्पर-युद्धरत आलोचकों के दाँव-पेचों का शिकार होना पड़ता हो या पैंतरेबाजी में झटका खा जाने का अंदेशा हो तो आश्चर्य नहीं; किन्तु जब यह पैंतरेबाजी किसी प्राचीन कवि के भाग्य का निर्णय करने पर तुल जाती है और उस साधक कवि के तत्कालीन समाज को

न देखकर अपने सामाजिक जीवन के चश्मे से देखा जाने लगता है; तब सही अर्थों में अनर्थ की परम्परा खड़ी हो जाती है। प्रसाद जी ने पिछले खेवे के सिद्धों के साहित्य को उनकी स्वच्छन्द आनन्दवादी प्रवृत्ति के कारण रहस्यवादी बताया, वे रहस्यवादी कवि को विवेक-संत्रस्त मर्यादावादी कवियों से श्रेष्ठ समझते थे, दूसरी ओर शुक्ल जी इन गुह्य साधकों को समाज-द्रोही कहते हैं। राहुल सांकृत्यायन जैसे मार्क्सवादी आलोचक सिद्धों के साहित्य को क्रान्तिकारी, रूढ़ि-विरोधी और नवीन चेतना से पूर्ण बताते हैं। इन परस्पर विरोधी मतवादों के घटाटोप में साधारण पाठक के लिए यह निर्णय करना भी कठिन हो जाता है कि ये कवि कैसे थे।

विद्यापति को शृंगारी कवि कहने वालों ने उन्हें समाज से बहुत दूर किसी लता-कुंज में विहार करने वाला या दर्बार के वातावरण में घिरे हुए संकुचित घेरे का कवि समझ लिया। विद्यापति दरबारी कवि थे अवश्य; किन्तु वे अपने चारों तरफ के वातावरण के प्रति कम जागरूक नहीं थे। यह दूसरी बात है कि उन्होंने सिद्धों या निर्गुण सन्तों, खासतौर से कबीर की तरह समाज के एक विशेष वर्ग के प्रति या उस वर्ग की मान्यताओं, रूढ़ियों आदि के प्रति उग्र विरोध प्रकट नहीं किया। किन्तु किसी प्राचीन मान्यता के प्रति उग्र विरोध प्रकट करना ही सामाजिक चेतना या जागरूकता का लक्षण नहीं है। और न तो सामाजिक यथार्थ का मतलब वर्ग-संघर्ष की भावना का चित्रण करना ही समझा जाना चाहिए। इस कसौटी पर परखने पर बहुत से श्रेष्ठ कवि 'हाथी दाँत की मीनार' के वासिन्दे ही प्रतीत होंगे। वस्तुतः इससे बड़ी कुत्सित समाज शास्त्रीयता और कुछ नहीं होगी कि हम किसी कवि की रचनाओं में अपनी मान्यताओं का प्रतिफलन या अपने न्यस्त अभिप्रायों का अंकन ही ढूँढ़ा करें। सामाजिक यथार्थ साहित्य में बहुत सूक्ष्म ढंग से अभिव्यक्ति पाता है। कवि राजनीतिक की तरह मतवाद का प्रचार नहीं कर सकता और न तो समाचार-सम्पादक की तरह किसी घटना या परिस्थिति का चित्रण ही करना पसन्द करेगा। साहित्य की अपनी मर्यादा और शैली है, उस शैली में व्यक्त सामाजिक यथार्थ को समझने में शब्दों या खास प्रकार की वस्तु को ही यथार्थ मानने-

वालों को थोड़ा कष्ट अवश्य होगा। विरह के गीत में वैयक्तिक मन का चित्रण ही प्रमुख होता है। इसमें भोंड़ा यथार्थवाद नहीं मिलेगा किन्तु समझदार व्यक्ति विरहगीतों में भी स्वस्थ और अस्वस्थ प्रवृत्तियों का भेद बता सकता है। विरहिणी नायिका का अवसाद कभी इतना व्यापक होता है कि वह सम्पूर्ण सृष्टि को अपने दुःख में दुःखी न देखकर आक्रोश से भर उठती है, या सम्पूर्ण विश्व को बुरा-भला कहने लगती है, ऐसा भी हो सकता है कि विरह में पीड़ित नायिका अपने दुःख में इतनी घोर निराशा-वादी हो जाये कि आत्महत्या करने पर तत्पर हो जाये। दूसरी तरफ ऐसी भी नायिका हो सकती है जो अपने दुःख में व्यथित रहने पर भी दूसरों के दुःख में हाथ बँटाती है, उसका निजी दुःख दूसरों के कष्टों को समझने की प्रेरणा देता है, शक्ति और उत्साह देता है। इन दोनों परिस्थितियों का अन्तर बड़े सूक्ष्म विश्लेषण की अपेक्षा रखता है। ऊपर से दोनों ही चित्रणों को प्रेम वियोग कहकर सामाजिक यथार्थ का चश्मा लगाकर तिरस्कृत किया जा सकता है। विद्यापति ने प्रेम-विरह के चित्रण में सर्वत्र स्वस्थ मनोवृत्ति का ही अंकन किया है, ऐसा तो मैं नहीं कहता; किन्तु इतना सत्य है कि विद्यापति की राधा अपने विरह में भी निराश नहीं है और न तो वह संसार का किंचित् भी अमंगल सोच पाती है। यही नहीं जहाँ नायिका अपनी विरह की पीड़ा से व्याकुलित चित्त होकर अपना नाश कर देना चाहती है वहाँ विद्यापति उसे आश्वासन देते हुए उसके प्रिय के मिलने की आशा बँधाते है :

सून सेज मोंहि सालए रे
पिया विनु घर मोयें आजि
विनती करौं सहलोलनि रे
मोहि देह अगिहर साजि
विद्यापति कवि गाओल रे
आइ मिलबे प्रिय तोर

विरह के इन गीतों में जहाँ नायिका आत्म-ग्लानि में पीड़ित होकर हजारों तरह की परिस्थितियों की कल्पना करके अपने दुःसह दुःख की भयंकरता

से ऊब कर अनिष्ट की बात सोचती है, कवि उस प्रत्येक परिस्थिति में सखी के मुख से, पथिक के मुख से या स्वयं कवि-मुख से आश्वासन के दो शब्द, आशादायक दो बातें अवश्य कहते हैं। विद्यापति के इन गीतों को गाकर जाने कितनी प्रोषितपतिकायें सूदूर कर्मरत अपने प्रेमियों, पतियों के विश्लेष दुःख को सँभालने में समर्थ हुई होंगी। ऐसे गीतों को स्वस्थ प्रवृत्तियों का विकास न कहकर और क्या कहा जायेगा ?

विद्यापति जैसे दरबारी कवि ने विरहिणी नायिका के दुःख का चित्रण करते वक्त उसे रानी या राजकुमारी की भूमिका में नहीं रखा है जो उनके लिए ज्यादा उचित और उस वातावरण के अनुकूल होता। कवि ने नायिका के रूप में एक ऐसी नारी की कल्पना की है जिसके चारों तरफ शील और मर्यादा की बाढ़ लगी है, परिवार है, सासु और ननद की पहरा देती आँखें हैं। ऐसी अवस्था मे नायिका अपने पति से मिलने के लिए जो कुछ कहती है, वह भारतीय गार्हस्थिक मर्यादा के भीतर ही।

विद्यापति की रचनाओं में यथार्थ के अन्य रूपों का भी बड़ा बारीक चित्रण हुआ है। तत्कालीन कुरीतियों आदि पर कवि ने बड़ा तीखा व्यंग्य किया है। उनकी आँखों के सामने होने वाली अजीब घटनाएँ उन्हें आक्रोश से भर देती हैं; किंतु विद्यापति ने विडम्बना-पीड़ित नायिका पर या उसके पति पर व्यंग्य नहीं किया है, वे समाज की उन रूढ़ियों पर व्यंग्य करते हैं। ऐसी परिस्थिति में ऐसे कार्यों के लिए उत्तरदायी ही दोषी है। विद्यापति ऐसे लोगों पर क्रोध नहीं करते, बड़े हँसमुख ढंग से वे उनके मर्म पर प्रहार करते हैं। युवती लड़की की शादी बालक पति से हो गई, आगे क्या हुआ, यह उन्हीं के मुख से सुनिये :

पिया मोर बालक हम तरुनी
कौन तप चुकलौंह भेलौंह जननी
पहिर लेल सखि एक दछिन क चीर
पिया के देखैतों मोर दगध शरीर
पिया लेलो गोद कै चललि बजार
हटिया के लाग पूछे के लागु तोहार

नहि मोर देवर कि नहिं छोट भाइ
पुरुष लिखल छल बाऊमु हमार
बाट रे बटोरिया कि तुहु मोरा भाइ
हमरी समाद नैहरे लेले जाउ
कहिहुन बाबा के किनए धेनु गाइ
दुधवा पियाइ के पोसता जमाइ

लड़की के बाप पर कैसा तीखा व्यंग्य है। लड़की अपने बाप से कहती है कि अपने इस जमाई के लिए दूध पीने को गाय भिजवा दो....विद्यापति ने लड़की के मूर्ख बाप की भर्त्सना नहीं की, उसे बेवकूफ नहीं कहा और न उसका समाज के लोगों द्वारा उपहास कराया, पर व्यंग्य किया कितना तीखा और मार्मिक।

यथार्थ की बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति उनकी कूटनी नारी पर लिखी कविता में हुई है। यह सत्य है कि उस कविता में आर्थिक वैषम्य या दीनता का जिक्र वैसा नहीं है जैसा कि आजकल की यथार्थवादी कही जाने वाली कविताओं में होता है। यह संभव भी नहीं था क्योंकि १४वीं शताब्दी के एक कवि को न तो आजकल का यह बुद्धिवादी वातावरण प्राप्त था न उसके सामने वर्ग-संघर्ष को वर्तमान परिस्थितियाँ ही स्पष्ट थीं। इसी कारण इस कविता में दुःख की अभिव्यक्ति है, लेकिन दूसरे तरह से। कामकला के प्रचार ने जिस प्रकार के छिछले प्रणय का प्रचार किया उसमें कूटनी नारी या शिष्ट शब्दों में दूती का महत्त्व था। यह दूती केवल प्रेमी-प्रेमिकाओं के स्वाभाविक प्रेम-व्यापार में ही सहायता नहीं देती थी; बल्कि नागरजनों की काम-वासना की तृप्ति के लिए नाना प्रकार के जाल फेंककर भोली-भाली मूर्ख लड़कियों को फँसाने का भी कार्य करती थी। एक ऐसी ही दूती जो अपने सम्पूर्ण यौवन-काल को इस प्रकार के छल-छद्म पूर्ण प्रेम-व्यापार या व्यवसाय में व्यतीत कर चुकी है, वृद्धावस्था आने पर अपने पूर्व जीवन के प्रति विरक्ति या निराशा से भर उठती है। कूटनी औरतें न केवल पर नारी को लोभादि दिलाकर फँसाने का ही कार्य

करती थीं; बल्कि स्वयं भी एक प्रकार से वेश्या का जीवन व्यतीत करती थीं। विद्यापति ने एक ऐसी ही वृद्धा कूटनी का चित्रण इन शब्दों में उपस्थित किया है :

हम धनि कूटनी परिनत नारी
बैसहु वास न कहौं विचारि
काहु के पान काहु दिअ सान
कत न हकारि कएल अपमान
कय परमाद धिया मोर भेल
आहे यौवन कतय चल गेल
भाँगल कपोल अलक भरि साजु
संकुल लोचने काजर आँजु
धवला केस कुसुम करु वास
अधिक सिंगार अधिक उपहास
थोथर थैया थन दुहुँ भेल
गरुअ नितम्ब कहाँ चलि गेल
यौवन सेस सुखायेल अंग
पाछु हेर विलुलइते अनंग
खने खस घोघट विघट समाज
खने खने अब हकारलि लाज
भनहिं विद्यापति रस नहिं छेओ
हासिनि देइ पति देवसिंह देओ

वयस और स्थान का बिना विचार करके बात करने वाली मैं कूटनी वृद्धा हूँ, किसी को पान देती हूँ, किसी को इशारा करती हूँ। जाने कितने लोगों को बुलाकर मैंने अपना अपमान किया है। मेरी लड़की को मेरे चरित्र के कारण जाने कितने प्रकार के प्रवादों का सामना करना पड़ा है। मेरा यौवन चला गया; सूखे गालों को मैं अलकों से ढँकती हूँ, धँसी हुई आँखों को अंजन से छिपाती हूँ, धवल बालों को फूलों से सुवासित करती हूँ, जितना ही अधिक श्रृंगार करती हूँ, उतना ही अधिक उपहास होता है।

यौवन के प्रतीक कुच थोथर होकर लटक गये। नितम्बों की गुरुता लुप्त हो गई। यौवन शेष हुआ, अंग सूख गए, अनंग पीछे भूमि पर लोट रहा है। दुष्टों के समाज में जब भी घूँघट गिर पड़ता है, क्षण-क्षण में लज्जा को पुकारती हूँ, पर वह दूर चली गई है, विद्यापति कहते हैं कि रस को (यौवन को) इस तरह नष्ट नहीं करना चाहिए।

विद्यापति ने समाज मे कुत्सित जीवन व्यतीत करने वाली इस नारी का चित्रण कितनी सहानुभूति से किया है। सहानुभूति ऊपर से लादी हुई नहीं है। आप उसकी आत्म-ग्लानि और अपने किए हुए कार्यों पर पश्चात्ताप की भावना के कारण अपनी सहानुभूति देने के लिए विवश हैं। वह अपने चरित्र के कारण अपनी लड़की पर लगाए जाने वाले प्रवादों से दुःखी है, वह जानती है कि यौवन-च्युत नारी का यह कृत्रिम शृंगार उसका उपहास करता है, परन्तु वह अपनी परिस्थितियों के कारण विवश है, कवि ने आर्थिक परिस्थितियों का स्पष्ट उल्लेख न करते हुए भी इस ओर काफी साफ ढंग से संकेत कर दिया है।

विद्यापति के कृष्ण नंदराजा के राजकुमार नहीं, ग्वाल थे, इसलिए विद्यापति ने जिस वातावरण मे उन्हे उपस्थित किया है, वह उसी के उपयुक्त है। राधा कृष्ण पर व्यंग्य करती हुई कहती है कि कैसा मूर्ख है यह कृष्ण, कहीं कौड़ी से घोड़ा खरीदा जाता है या उधार माँगने से घी मिलता है? बैठने का स्थान नहीं, खाने को व्यंजन माँगता है। आज तो बड़ा मजा आया। कान्हा का मिथ्या गौरव चूर-चूर हो गया। आकर पाँव के पास प्वाल पर बैठ गया। बेचारा पूछने लगा, शय्या कहाँ लगी है। पास में फटी हुई चटाई और मन में पलंग। अहीरिनियों के नाथ की बात ही क्या कहना :

कउड़ि पठओले पाव नहिं घोर
घीव उधार माँग मति भोर
बास न पावए माँग उपाति
लोभ क रासि पुरुष थिक जाति

कि कहब आज कि कौतुक भेलि
अपदहिं कान्ह क गौरव गेलि
आयल वैसल पाँव पोआर
सेज क कहिनी पूछये विचार
ओछाओन खण्डतरि पलिया चाह
आओर कहब कत अहिरिनि नाह
भनइ विद्यापति पहु गुनवन्त
सिरि सिवसिंह लखिमा देइ कन्त

विद्यापति की सामाजिक चेतना का परिचय एक और प्रकार से मिलता है। उन्होंने सारे अभिजात प्रयोगों के बावजूद कई स्थानों पर घोर ग्राम्य या लोक प्रसूत प्रयोग किए हैं। ऐसे प्रयोगों से कवि की पैठ और बातचीत की स्वाभाविकता को ग्रहण करने की कोशिश का पता चलता है। मुहावरे और कहावतों के प्रयोग में विद्यापति ने कमाल कर दिया है। खास तौर से ये प्रयोग राधा तथा अन्य गोपियों की बातचीत में दिखाई पड़ते हैं। लोक प्रयोग प्रायः स्त्रियों के वार्तालाप में ज्यादा सुरक्षित रहते भी हैं। उदाहरण के लिए थोड़े से प्रयोग नीचे दिए जाते हैं :

सखि हे बूझल कान्ह गोआर
पितरक टाँड़ काज दुहु कओन लहु
ऊपर चकमक सार

कान्ह बिल्कुल गँवार है यह मैंने आज जाना। पीतल का टाँड़ (आभूषण) ऊपर से सोने का मुलम्मा। यह चमक-दमक से कोई काम सरने वाला नहीं।

तोहर वचन कूप धँस जोरल
ते हम गेलिहुँ अबाटे
चन्दन भरम सिमर आलिंगल
सालि रहल हिय काँटे

तेरी झूठी बातों में पड़कर मैं कुएँ में कूद पड़ी, बेराह चली। चन्दन के भ्रम से मैंने सेहुँड़े को छाती से लगाया, 'हृदय में काँटे साल रहे हैं।

सुजन क वचन खोट नहिं लाग

जिन दढ़ करु आलका दाग

सुजन के कड़े वचन में कभी-कभी नहीं जाता जैसे अच्छी तरह लगाया हुआ आलता (ऐपन) का दाग जल्दी नहीं छूटता।

मानिनी गोपी अपनी सखी से कहती है कि उस मूर्ख ने कमल का अभिनव पुष्प नीम के दोने में फेंक दिया, जो वहीं सूख कर बिखर गया। 'नीम के पत्ते का दोना' प्रयोग देखिए। इसमें कटुता व तिक्तता का भाव है साथ ही कमल फूल नीम के दोने में फेंकना, का अर्थ गुण को न समझना भी है :

अभिनव एक कमल फुल सजनी

दोना नीम क डार

सेओ फूल ओतहिं सुखायल सजनी

रसमय फुलक नेवार

गोपी एक रात का अनुभव सुनाती हुई गँवार कृष्ण की जो विशेषताएँ बताती है, वे इस प्रकार हैं :

कि कहब हे सखि रात क बात

मानिक पड़ल कुबानिक हात

कांच कंचन नहिं जानए मूल

गुआ रतन करए समतूल

तन्हि सौं कहाँ पिरीत रसाल

वानर कंठ की मोतिम माल

मनइ विद्यापति इह रस जान

वानर मुंह की सोभए पान

विद्यापति ने लोक-प्रचलित मुहावरों (Idioms) के प्रयोग से भाषा को एक नई शक्ति दी तथा अपने कथ्य को अधिक जीवन्त और लोक-जीवन-सम्पृक्त बनाया। मुहावरों के साथ ही उन्होंने लोक-जीवन के अन्य तत्त्व भी ग्रहण किए। उदाहरण के लिए उनके गीतों में कई स्थानों पर प्रेम-

विरह आदि की सूक्ष्म परिस्थितियों में लौकिक अन्धविश्वास भूत-प्रेत, टोना-टोटका तथा अन्य प्रकार के रूढ़ विश्वासों का प्रयोग हुआ है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने इन विश्वासों को हानिकर या अवैज्ञानिक समझ कर इनका प्रतिकार किया, ऐसा करने का वह युग भी नहीं था; किन्तु उन्होंने अपनी सहजता में ही इनका विरोध, कहीं विडम्बना दिखाई है। उदाहरण के तौर पर उनके गीत में एक प्रेमिका गोपी अपनी सास को धोखा देने के लिए भूताविष्ठ का अभिनय करती है, कृष्ण एक ओझाइन बनकर आते हैं, और अकेले में मंत्र-प्रयोग की आज्ञा लेकर घर के लोगों को उसके पास से हटा देते है, गोपी का रोग दूर हो जाता है :

निरजन होइ मंत्र जब झाड़िए
तब इह होएब भाल
एत सुन जहिला घर दोहे लाओल
निरजन दुहु एक ठाम
सब जन निकसल बाहर बइसल
पुरल कान्ह मन काम
बहु खन अतनु मंत्र पढ़ि झारल
भागल तब सेहो देवा
देव देया सिनि घर सयँ निकलल
चातुरि बूझवि केवा

इस प्रकार के भूत-प्रेम के बहाने के पीछे कितना सत्य होता है, क्या-क्या अभिप्राय होते हैं, उनका एक व्यंग्यात्मक संकेत यहाँ विद्यापति ने दिया है। राधा के विरह-प्रसंगों में भी इसी प्रकार के लौकिक विश्वासों का प्रयोग किया गया है, इसके कारण ऐसे वर्णन ज्यादा मार्मिक और हृदय-स्पर्शी हो सके हैं। जैसे कृष्ण के वियोग में राधा का आत्म-ग्लानिपूर्ण यह कहना कि क्या मैं शाम का एकाकी तारा हूँ या भादव चौथ का चाँद जो कलंक के डर से प्रभु मेरी ओर देखना तक नहीं चाहते। ये पंक्तियाँ पीछे राधा के विरह के प्रसंग में उद्धृत की जा चुकी हैं।

विद्यापति के काव्य में ऐसे स्थलों की भी कमी नहीं है जहाँ वे अस्वस्थ और कई रूपों में अनैतिक वर्णन प्रस्तुत करते हैं। रति के वीभत्स वर्णन, विपरीत रति के अश्लील वर्णन तथा विवृत आलिंगन आदि के प्रसंग स्वस्थ प्रवृत्तियों के विरोधी ही कहे जायेंगे। यद्यपि कहीं-कहीं कवि ने ऐसे वर्णनों को रूढ़ अप्रस्तुतों की आड़ में ढँकने की कोशिश की है, किन्तु ऐसे प्रसंग भी उद्देश्य के सस्तेपन के कारण कुरुचिपूर्ण प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए पदावली (बेनीपुरी-सम्पादित) का १७२ वाँ पद 'सखि हे कहब किनु नहि फूर' तमाम अलंकरण के आवरण के बावजूद अपनी नग्नता को नहीं छिपा सका है। विदग्ध-विलास के प्रायः सभी पद इस दोष से पीड़ित हैं। इस प्रकार के वर्णनों के पीछे कैसी मनोवृत्ति काम कर रही थी, इस पर पीछे विस्तार से विचार हो चुका है, उसे यहाँ फिर से दुहराने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

दृष्टकूट के पद भी इसी अस्वस्थ मनोवृत्ति के परिचायक हैं, हालाँकि यह वस्तुगत नहीं शैलीगत दोष है। डॉ० विमान विहारी मजूमदार-सम्पादित 'विद्यापति' के एक सौ चौरानबें से लेकर दो सौ संख्या वाले पदों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है, जैसे कवि ने महज पाठक को परेशान करने के लिए ही वे पद लिखे हैं, इन सभी पदों के नीचे मजूमदार ने लिखा है कि इसका अर्थ नहीं मिला। यह रूढ़ परिपाटी है, इसमें शक नहीं। संस्कृत में भी इस प्रकार के दृष्टकूट पद बहुत लिखे गए। सूर ने तो इसमें कमाल ही कर दिया। वरन् जो कुछ भी हो यह प्रवृत्ति है अस्वास्थकर ही।

गीतिकाव्य : उदय और विकास

गीतिकाव्य कविता का सर्वाधिक लोकप्रिय और परम्परा-प्रशंसित प्रकार है। मानव-मन के अत्यन्त निकट और उसी से निष्पन्न होने के कारण इस काव्य-विधा (फार्म आफ द पोएट्री) ने हजारों वर्षों से निरन्तर समष्टि-चित्त को प्रभावित किया है। मनुष्य के सुख-दुःख और उसके वैयक्तिक भावों, संवेगों और इच्छा-व्यापारों का एकमात्र सहज अभिव्यक्ति-माध्यम होने के कारण गीतिकाव्य को जो स्वीकृति और सम्मान मिला है, वह अद्वितीय है। कविता के विषय में सामान्यतः और गीतिकाव्य के विषय में विशेषतः आज ये शंकाएँ सुनाई पड़ती हैं कि वर्तमान बौद्धिक युग अपनी विकल्पात्मक प्रक्रिया के कारण इन भावनामूलक काव्य-प्रकारों के लिए उतना उपयुक्त नहीं रहा। कविता ने इसलिए अपने को युगानुकूल बनाने के लिए न केवल अपने कलेवर में परिवर्त्तन किया, बल्कि भाव-तत्त्व में भी वस्तुगत (आब्जेक्टिव) तथा वैचारिक अभिव्यक्ति को प्रधानता दी। वर्तमान कविता के बुद्धिवादी होने की बात इसी कथन की पुष्टि करती है। गीतिकाव्य चूँकि केवल भावनामूलक और वैयक्तिक अनुभूतियों को वस्तु के रूप में स्वीकार करता है इसलिए उसके लिए तो वर्तमान बौद्धिक युग और भी अधिक अनुपयुक्त ठहरता है। किन्तु इस तर्क की अतिवादी परिणति तो तब होती है जब कि नयी कविता के प्रायोगिक रूपों के हिमायती गीतिकाव्य के कवि को दकियानूस, प्रतिगामी या युग-सत्य के प्रतिदर्शी की उपाधि दे डालते हैं। यह सत्य है कि कोई-कोई युग-विशेष गीतिकाव्य के लिए उतना उपयोगी अथवा उत्साहवर्धक नहीं होता, किन्तु बौद्धिक होने के कारण ही वर्तमान युग गीतिकाव्य के लिए एकदम अनुपयुक्त नहीं माना जा सकता। इन परिस्थितियों को देखते

हुए गीतिकाव्य के मूल तत्त्वों, उसके उदय और विकास को अवस्थाओं का पूर्ण परीक्षण आवश्यक होता है।

गीतिकाव्य क्या है? आरम्भ में यह प्रश्न स्वाभाविक है, किन्तु जिस प्रकार कविता की कोई सुनिश्चित और सर्वमान्य तथा पूर्ण परिभाषा उपस्थित कर सकना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार गीतिकाव्य की भी कोई खास परिभाषा नहीं है। मुख्य लक्षणों के संधान के लिए हम दो पहलुओं से विचार कर सकते हैं। वस्तु की दृष्टि से गीतिकाव्य ज्यादा आत्मपरक होता है, अर्थात् उसमें मानवीय संवेदनात्मक तत्त्वों—इच्छा, संवेग, भावना आदि की प्रधानता होती है। ये लक्षण तो सामान्यतया साहित्यमात्र के कहे जा सकते हैं, क्योंकि साहित्य भी मूलतः भावनामूलक और संवेदनात्मक होता है; किन्तु गीतिकाव्य में यह कुछ अधिक मात्रा में मिलता है। इसी विशेषता की ओर संकेत करते हुए डॉ० चार्ल्स मिल्स ने लिखा है कि वस्तुतः गीतिकाव्य को ही कविता कहा जा सकता है। किसी कृति-विशेष में काव्यात्मकता जितनी अधिक होती है वह उसी अनुपात में गीतात्मक होती है। नाटक जितना ही काव्यात्मक होगा वह उतना ही गीति-तत्त्व से पूर्ण होगा। महाकाव्य जितना हो अधिक काव्यात्मक हो वह उतना ही गीतात्मक होता है।[1] स्पष्ट है कि गीतिकाव्य का एक अत्यन्त आवश्यक धर्म उसका भाव-प्रधान होना है। काव्य के अन्य प्रकारों में विवरण, वस्तु वर्णन और अन्य वैचारिक तत्त्व की प्रधानता हो सकती है, किन्तु गीतिकाव्य में इसके लिए अधिक स्थान नहीं। भावों की प्रधानता और कोमल अनुभूतियों को वस्तु तत्त्व के रूप में स्वीकार करने के कारण

---

१. In other words, pure poetry that which has the essentially poetic quality is lyric poetry. Every composition becomes increasingly lyrical as it becomes more and more poetic, the more poetical a drama is, the more lyrical it is. The more poetic an epic, the more lyrical it must be. (Methods and Materials of Literary Criticism. P. 7.)

गीतिकाव्य स्वभावतः आत्मपरक (सब्जेक्टिव) हो जाता है। कवि अपने अनुभूत भावों को गीति में ढालता है। वस्तुगत विचारों से बचने के कारण उसकी कृति स्वभावतः ही वैयक्तिक और आत्मपरक होती है। दार्शनिक विचारकों ने गीतिकाव्य के आध्यात्मिक और वैयक्तिक स्वर को स्वीकार किया है। हीगेल ने गीतिकाव्य की जो परिभाषा दी है वह इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हीगेल के मत में गीतिकाव्य का कवि जगत् के सारे तत्त्वों को अपने में समाहित करता है, अपने वैयक्तिक भावों के प्रभाव से इसे पूर्णतः आत्मसात् करता है, और इस आत्मपरकता को सुरक्षित रखने वाली शैली में अभिव्यक्त करता है।[1] इस प्रकार गीतिकाव्य कविता के अन्य प्रकारों से अपनी आत्मपरकता, संवेगपूर्णता और कल्पनाशीलता की विशेषताओं के कारण अलग प्रतीत होता है।

वैयक्तिकता का गुण गीतिकाव्य की किसी एकान्त विशेषता की ओर संकेत नहीं करता। जैसा कि ऊपर कहा गया है, आत्मिक अनुभूतियाँ अल्पाधिक रूप में अन्य रूपों में भी स्वीकार की जाती हैं। ऐसी अवस्था में यह कहना कि ये केवल गीतिकाव्य की ही विशेषताएँ हैं बहुत उचित नहीं मालूम होता। फिर गीतिकाव्य की परिभाषा का दूसरा पहलू ढूँढ़ना जरूरी हो जाता है। वह है इसकी शैली। गीतिकाव्य की शैलीगत विशेषता है उसकी गेयता। गीति ग्रीक शब्द (Lyric) का हिन्दी रूपान्तर है, जिसका मूल अर्थ है वह गाना जो लायर बाजे के साथ गाया जा सके।[2] कालान्तर में इस रूढ़ार्थ में बहुत विकास हुआ—तीन प्रकार से गाए जाने के कारण इसके तीन भेद हुए : समूह गान (Choral); एक व्यक्ति द्वारा गाए जाने वाला (Monodic); नृत्य के साथ गाया जाने वाला (Dorian)। ये भेद विकास की अवस्था तो बताते हैं, किन्तु गेयता के गुण

१. Quoted by Dr. Gayley in Methods and Materials of Literary Criticism, P. 5.

२. Greek, A poem to be sung to the lyre. (Shipley's Dictionary of world literary terms.)

को किसी-न-किसी रूप में सभी स्वीकार करते हैं। श्री ई० गोस इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के गीतिकाव्य शीर्षक परिच्छेद में लिखते हैं कि गीतिकाव्य सामान्यतः कविता के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द है जो किसी गीति-वाद्य के साथ गायी जाती हो या गायी जा सके।[1] यहाँ आत्मपरक या वैयक्तिक अनुभूतियों का गुण बहुत बड़ा भेदक तत्त्व नहीं माना गया है। श्री गोस केवल गेयता को ही आवश्यक मानते हैं। गेय कविता को गीतिकाव्य तो स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु इस परिभाषा में अति व्याप्ति-दोष आ गया है। कोई भी कविता गायी जा सकती है, महाकाव्य तक गाए जा सकते हैं, अतः केवल गेयता को एकमात्र लक्षण स्वीकार करके गीतिकाव्य की परिभाषा नहीं बनायी जा सकती।

यूरोप के प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने इस काव्य-विधा के सैद्धान्तिक मूल्यांकन पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया है। ग्रीक विचारकों ने गीतियों को लक्ष्य किया था। उन्होंने मुख्यतया तीन विभेद भी स्वीकार किए थे जो ऊपर दिए गए हैं, किन्तु इस विषय के अध्ययन और सैद्धान्तिक सूक्ष्मताओं को व्यक्त करने का कोई प्रयास वहाँ नहीं दिखाई पड़ता। ग्रीस में विभिन्न अवसरों पर गाए जाने वाले सामयिक गानों का श्रेणी-विभाजन अवश्य किया गया, किन्तु इसे काव्य के एक प्रकार के रूप में यहाँ भी बहुत महत्त्व नहीं दिया गया। "यूरोपीय पुनर्जागरण काल तक गीतिकाव्य के विषय में कोई नियमबद्ध सिद्धान्त निर्धारित नहीं हो सका था।"[2] परवर्ती काल में कई विचारकों ने इस पर विचार किए, किन्तु उपर्युक्त दोनों लक्षणों तक ही विवाद पहुँच कर रह गया। श्री पाल्ग्रेव, जिन्होंने गीति-कविताओं का चयन और सम्पादन किया,[3] गीतिकाव्य को थोड़े शब्दों में यों रखते हैं : "गीतिकाव्य इकहरे विचार, अनुभूति या स्थिति का चित्रण है जिसमें संक्षिप्तता, मानवीय भावना का रंग और गति अवश्य होनी चाहिए।" पाल्ग्रेव की इस परि-

---

1. In Encyclopeadia Britannica 11 th Edition, vol. XVII, P. 180.
2. Spingarn : Literary Criticism of Renaissance, P. 58.
3. Palgrave's Golden Treasury of Songs and Lyrics, preface.

भाषा में दो और लक्षण दिखाई पड़ते हैं। पहला तो यह कि गीतिकाव्य में एक ही विचार या अनुभूति या स्थिति होनी चाहिए। उसमें उलझन या शाखा-विस्तार अथवा भावों के संघर्ष की स्थिति नहीं होनी चाहिए। इस दृष्टि से पालग्रेव ने संक्षिप्तता को अनिवार्य गुण स्वीकार किया। यही विशेषता है जो गीतिकाव्य को एक ओर वर्णनात्मक बड़ी कविताओं से अलग करती है, दूसरी ओर उसमें प्रभावान्विति (Totality of effect) को बढ़ाती है। एक भाव को होने के कारण इस प्रकार की कविता सहज और सामान्य जन के लिए बुद्धिगम्य होती है। पालग्रेव ने जिस दूसरी विशेषता की ओर ध्यान आकृष्ट किया, वह है त्वरा (Rapidity of mnvement)। गीतिकाव्य में भाव-शृंखला में परिवर्तन के लिए त्वरा आवश्यक है। सभी काव्य प्रभावित करते हैं। प्रेषणीयता और रसोद्रेक उसका गुण-धर्म होता है, किन्तु उनमें प्रभावोत्पादन की प्रक्रिया में क्रमिक विकास की स्थिति होती है, त्वरा या शीघ्रता बहुत जरूरी चीज नहीं होती, किन्तु अत्यन्त संक्षिप्त भावना की अभिव्यक्ति होने के कारण गीतिकाव्य में यह त्वरा अत्यन्त आवश्यक है। हीगेल भी इन दो विशेषताओं को स्वीकार करते हैं।[१] उन्होंने गीतिकाव्य के लिए दो आवश्यक तत्त्व माने : (१) सम्बद्धता (Unity) पूरे छन्द में भावाकुलता और प्रभाव की समान स्थिति का अटूट निर्वाह होना चाहिए। अन्यथा प्रभाव में ह्रास की भावना बनी रहती है। (२) कथन और घटना-प्रवाह में शीघ्र परिवर्तन की स्थिति (Swift movement)। नयी बात कहकर उसे पुनः पूर्वकथित हिस्से से जोड़ जोड़ कर माधुर्य और रसोद्रेक की सृष्टि करना भी गीतिकार का कौशल है। इस गीतिशीलता पर एक और दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। संगीत की सबसे बड़ी विशेषता यह मानी जाती है कि वह हमारी सीमित भावना को समाजगत भाव-चित्त के साथ जोड़ता है। इसलिए हम बिना किसी स्पष्ट अर्थ से रहित स्वरों को सुनते हुए भी किसी अज्ञात भावलोक में डूब जाते हैं। संगीत हमारी प्रज्ञा को एक क्षण के लिए सांसारिक यथार्थ के धरातल से उठा कर कल्पना के

---

१. J. S. Kedney : Hegal's Aesthetics, Page 282.

भावलोक में अग्रसर करता है। हम स्वरों के आरोह-अवरोह को तथा उसके राग-लहरों के स्पर्श को अनुभव करते हैं और बिना किसी संकेत या अर्थ के यह समझ लेते हैं कि अमुक राग शोक-स्थिति का द्योतक है, मायूसी या निराशा का भाव-व्यंजक है, अथवा उसमे उल्लास, उत्साह या आनन्दसूचक भावों की प्रधानता है। इन्हीं अनुमेय भावों के अनुसार हम संगीत के लयबद्ध स्वरों से प्रभावित होते हैं। वंशी की करुण रागिनी का कोई अर्थ नहीं, वह किसी प्रिया-विश्लेष-दुःख से अभिभूत चित्त की करुणा को शब्दार्थ के माध्यम से व्यक्त नहीं करती; किन्तु हर सहृदय व्यक्ति इस रागिनी से प्रभावित होता है। पुत्रोत्पत्ति के अवसर पर बजने वाली शहनाई और मृत्यु के अवसर पर कंपन-भरी विलम्बित स्वरलहरी की करुणा का अन्तर कौन नहीं जान पाता ? इस प्रकार संगीत सर्वाधिक अशरीरी कला है जो हमारे मन को सीधे स्पर्श करती है। गीत इसी संगीत का सहारा लेता है। वह एक कोमल स्वरलहरी की शब्दशक्ति का सहारा देकर धरती पर उतारता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म कोमल भावों को पदार्थ से संयुक्त करता है। अर्थहीन स्वरों में वैयक्तिक अनुभूतियों की सृष्टि करता है। वह एक वायवी पदार्थ को धरती पर लाकर उसमें मानवीय सुख-दुःख की सर्वसामान्य अवस्थाओं से संयुक्त करता है, इसीलिए गीतिकाव्य, संगीत के इस उन्नयन-शील भावोद्रेक-शक्ति के साथ समन्वित होने के कारण प्रभाव की अति तीव्र व्यंजना में सक्षम होता है। प्रो० एस० लाज लिखते हैं कि गीतिकाव्य कल्पना की गति है, जिसके द्वारा ससीम-मानवात्मा असीम के साथ सम्बद्ध होने का प्रयत्न करती है।[1]

इस प्रकार गीतिकाव्य मे भाव की एकमेवता, गेयता, प्रभावान्विति और सम्बद्धता को विशेष लक्षण के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। गीति-काव्य को इन विशिष्टताओं को दृष्टि में रखते हुए हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि इस काव्य-विधा में साहित्य-प्रणयन करने वाला कवि हृदय

---

१. The lyric, a movement of fancy by which the spirit strives to lift itself from limited to the universal. by H. Lotze; Outlines of Aesthetics, translated by G. T. Ladd, Page 99.

से कुछ भावुक और अपेक्षाकृत अधिक संवेदनशील व्यक्ति होगा। यह अनुमान बहुत-कुछ ठीक है, किन्तु उसके आधार पर इस प्रकार के कवि को पलायनवादी या जागतिक संघर्षों से घबड़ानेवाला समझना ठीक नहीं होगा। कवि के मन में गीतिकाव्यात्मक भाव की सृष्टि प्रायः शान्ति-विक्षेप के कारण ही होती है। सर्वथा सहज ढंग से चलने वाले जीवनक्रम में भावना-व्यतिक्रम के कारण जो अशान्ति उत्पन्न होती है वह एक शक्तिशाली भाव को जन्म देती है, जो गीति का रूप ले सकता है। इसलिए मानसिक द्वन्द्व की स्थिति कवि के मन में अवश्य हो रहती है। युग की समस्याएँ, संघर्षों की अवस्थाएँ भी कवि के मस्तिष्क को प्रभावित करती हैं। इन वस्तुओं को वह जितनी ही एकाग्रता से सोचता है वे उसके हृदय में उतनी ही प्रबल भावना का रूप धारण करती हैं, उसके मन में क्षोभ, आक्रोश या निराशा की प्रवृत्तियाँ इन्हीं का परिणाम होती हैं। गीतिकाव्य में इनकी भी अभिव्यक्ति होती है। वीरतापूर्ण गान और राष्ट्रीय संघर्षों से उत्पन्न गीत इसी के उदाहरण हैं। अपनी सूक्ष्म भावप्रवणता और अभिव्यक्ति की बारीकी के कारण गीति-कविता किसी भी भाव या वस्तु को स्वीकार कर उसे प्राणवान और जीवन्त बना सकती है।

गीतिकाव्य की उत्पत्ति का प्रश्न भी विचारणीय है। श्री एच० टी० पेक लिखते हैं कि गीतिकाव्य कविता का सर्वाधिक सहज प्रकार होने के कारण निश्चित रूप से सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, अन्य दूसरे चेष्टाजन्य रूप निश्चित ही इसके बाद और इसी से उत्पन्न हुए।[१]

काव्य की अन्य विधाओं (फार्म) की तरह गीतिकाव्य चूँकि सचेत बुद्धि-व्यापार से उत्पन्न वस्तु नहीं है, इसलिए आदिम मानव के अति पुरातन और आरम्भिक भावों के साथ ही गीतिकाव्य का जन्म हुआ। हालाँकि यह कहना कठिन है कि गीतिकाव्य के आविर्भाव का निश्चित काल क्या है, किन्तु इतना तो सहज अनुमेय है की संवेगों की तीव्रता और उद्वेलन की असामान्य परिस्थितियों में भावाकुल अभिव्यक्ति ने स्वरों का

---

१. The Lyrics of Tennyson.

रूप लिया—ऐसे शब्द और अर्थ तथा उनकी पुनरावृत्ति यही गीतिकाव्य के आदिस्रोत हैं। महादेवी जी लिखती हैं—'संभव है, जिस प्रकार प्रभात की सुनहली रश्मि छूकर चिड़िया आनन्द से चहचहा उठती है, जिस प्रकार मेघ को घुमड़ता-घिरता देख कर मयूर नाच उठता है, उसी प्रकार मनुष्य ने भी पहले-पहल अपने भावों का प्रकाशन ध्वनि और गति द्वारा किया हो।" आदिमानव के उल्लास और शोक के क्षण प्रायः आंगिक गतियों द्वारा व्यक्त होते थे। शब्दों की शक्ति शोकाकुल भावों को व्यक्त करने में सदा असमर्थ होती है, उसी प्रकार अति उल्लास के क्षण भी शब्द के माध्यम से पूर्णतया प्रकट नहीं हो पाते। ऐसी अवस्था में विकसित मानव तक शारीरिक प्रक्षेप की शरण लेता है। समाज-विकास की आदिम अवस्था मे इस तरह की बहुत-सी स्थितियों का संकेत मिलता है, जिसमें शोक-हर्ष की अभिव्यक्ति के लिए तरह-तरह की आंगिक गतियों (Primitive art of movement) का उपयोग होता था। कविता के प्रारम्भिक रूप के अध्ययन के बाद स्पेन्सर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आदिम कलाओं, धार्मिक उत्सवों, अनुकरण-प्रधान (Mimetic) क्रियाओं, समूह वाद्य और नृत्य के साथ कविता के मूल तत्त्वों का तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।[१] बहुत-से मनोविज्ञानवेत्ता पंडितों ने गीति के उदय की मनोवैज्ञानिक अवस्था का भी अध्ययन किया। ज्यादा तीव्र संवेगों की अवस्था में हम प्रायः निरर्थक या अर्धसार्थक पदों को बार-बार बड़बड़ाते हैं। प्रायः यही अवस्था किसी न किसी रूप में गीतों के टक के भीतर भी छिपी हुई है। गीतों के टेक अपनी अर्थहीनता और एकरसता के बावजूद बार-बार दुहराये जाने पर भी चित्त को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार गीतिकाव्य अपने आदिम या अविकसित रूप में इन प्रारम्भिक अभिव्यक्ति की अवस्थाओं से जुड़ा हुआ मालूम होता है।

गीतों के विकास की पूरी अवस्था हमें जीविकोपार्जन के लिए स्वेद-श्लथ श्रमजीवियों के समूहगानों में दिखाई पड़ती है। प्रारम्भिक आदिम

---

१. Spencer, Frist principles, P. 105-108.

समाज में मनुष्य अपने जीविकोपार्जन के निमित्त समूहबद्ध होकर प्रयत्न करता था, आज भी निचले स्तर के श्रमजीवियों में यह प्रथा देखी जा सकती है। वैसी अवस्था में काम के भार से थक कर लोग उस नीरसता को कम करने के लिए तथा निरन्तर वर्तमान एकपृष्टता (Monotony) को मिटाने के लिए गीतों का सहारा लिया करते हैं। ये गीत तात्कालिक कर्तव्य से संबंधित नहीं होते। इन गीतों में हम जीवन के उन क्षणों की अनुभूतियों की विवृत्ति पाते हैं जिनमें मनुष्य सहज धरातल पर खड़ा होकर अपने सुख-दुःख को स्वीकार करता है। काडवेल ने कविता के उद्भव में इस प्रवृत्ति को सहायक बताया है। यहाँ पर आलोचकों को ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार के गीति, जिनमें केवल वैयक्तिक सुख-दुःख की बात होती है, कर्म के प्रेरक बन कर आते हैं, थके-हारे लोगों को नवीन उत्साह देते हैं, शक्ति और साहस देते हैं, उन्हें प्रतिगामी या निरुत्साही नहीं बनाते। इसलिए गीतिकाव्य की आत्मपरक प्रवृत्ति को युग-विरोधी कहना कोई मूल्य नहीं रखता। महादेवी जी ने ठीक ही लिखा है कि चिड़ियों से खेत की रक्षा करने के लिए मचान पर बैठा हुआ युवक कृषक जब अचानक खेत और चिड़ियों को भूल कर बिरहा या चैती गा उठता है तब उसमें खेत-खलिहान की कथा न कहकर अपनी किसी विरह-मिलन की स्मृति को ही दुहराता है। चक्की के कठिन पाषाण को अपनी साँसों से कोमल बनाने का निष्फल प्रयत्न करती हुई दरिद्र स्त्री, जब इस प्रयास को रागमय करती है, तो उसमें चक्की और अन्न की बात न होकर किसी आम्र-वन में पड़े झूले की मार्मिक कहानी रहती है।[१] इस स्थान पर पुनः एक बार यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि गीतिकाव्य वर्तमान संघर्षमय युग में भावुकता नहीं सिखाएगा, बल्कि कार्यरत और थके हुए लोगों में नया उत्साह पैदा करेगा।

गीतिकाव्य के लिए उपयुक्त-अनुपयुक्त समाज की बात उठायी जाती है। प्रश्न विचारणीय है क्योंकि विश्व के सभी देशों में गीतिकाव्य लिखे

---

१. आधुनिक कवि, भूमिका, पृ० २०।

जाते हैं और लिखे गये हैं। उनका अध्ययन हुआ है और उनकी पृष्ठभूमि के रूप में उन सामाजिक परिस्थितियों की जाँच भी की गई है, जो किसी-न किसी रूप में इसके विकास या ह्रास का कारण बनी हैं। पण्डितों का विचार है कि सामाजिक रूढ़ियों, बौद्धिकता और विवेकपरस्ती का युग गीतिकाव्य के लिए बहुत उपयुक्त नहीं होता। इसके विपरीत संघर्ष, रूढ़ि-विरोधिता, क्रान्ति और विघटन के युग में गीतिकाव्य की अत्यन्त उन्नति होती है। डॉ० गैले इस तथ्य का समर्थन करते हुए कहते हैं कि प्रायः यह माना जाता है कि सभ्य देशों में बौद्धिकता और सामाजिक रूढ़ियों का युग, जैसा कि १८वीं शती का था, गीतिकाव्य में प्रबल अभिरुचि उत्पन्न करने के उपयुक्त नहीं होता।[1] प्रायः उस काल में जब सम्पूर्ण देश में शान्ति हो, एकछत्र साम्राज्यों का संघटन हो रहा हो, किसी बहुत बड़े व्यक्ति की सत्ता को सारा बुद्धिवादी वर्ग स्वीकार कर लेता हो, तब गीतिकाव्य का ह्रास होता है। उस युग में अधिकांशतः महाकाव्यों की रचना होती है। उनके माध्यम से युग की वर्तमान परिस्थितियों का चित्रण किया जाता है। हीगेल ने लिखा है कि महाकाव्य में किसी राष्ट्र का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है, किन्तु गीतियों के वृहद् संग्रह में राष्ट्र के आन्तरिक और असली स्वरूप का दर्शन कर सकते हैं।[2] हीगेल के इस कथन में व्यक्ति के जीवन को प्रधानता दी गयी है। व्यक्ति समाज की अन्तिम इकाई है, उसके जीवन की झलक महाकाव्यों में उस अनुपात में नहीं मिल सकती, क्योंकि महाकाव्य प्रायः अतिमानवीय या महत्तम मानव के जीवन को ही अपना लक्ष्य मानते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि गीतिकाव्य के

---

१. It has been frequently remarked that among civilized peoples an age of intellectualism and strong social convention, as was the eighteenth century, is unfavourable to the growth of strong yc sentimant—Method and Materials of Literary Criticism, P. 40.

२. वही पुस्तक, डॉ० गैले द्वारा उद्धृत, पृष्ठ ४०।

लिए वह युग अनुपयुक्त होगा, जिसमें मनुष्य की वैयक्तिक सत्ता को स्वीकार न किया जाय।

भारतीय गीतिकाव्य का आरम्भ वैदिक युग से मान सकते हैं। जैसा कहा गया कि गीतिकाव्य की सत्ता मनुष्य की आदिम अनुभूतियों के साथ जुड़ी हुई है, इसलिए गीतिकाव्य अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित प्रकार है, किन्तु किसी प्रमाण के अभाव में हम भारतीय गीतिकाव्य का जन्म वैदिक काल के पूर्व नहीं सोच पाते। वैदिक गीतियों में गीतिकाव्य का अत्यन्त ताजा, मौलिक और सहज स्वर सुनाई पड़ता है। प्रकृति के भयानक और आश्चर्यजनक रूपों को देखकर आदिम मन की जिज्ञासायें, भय और विस्मय की स्थितियाँ, त्राण की कामना, स्तुति और श्रद्धा की भावनाएँ इन प्रारम्भिक गीतों में दिखाई पड़ती हैं। संघर्षरत जीवन के समूहगीत, वीरतापूर्ण गाथाएँ, एक कबीले से दूसरे कबीले के युद्ध के समय इष्टदेव से सहायता के लिए विनयपूर्ण याचनाएँ इन गीतों में व्यक्त हुई हैं। ई० डब्ल्यू० हापकिन्स प्राचीन भारतीय गीतिकाव्य को चार भागों में बाँटते हैं। पहला युग वैदिक गीतियों का है, जो ईसापूर्व आठवीं शती से चौथी तक फैला हुआ है। इसमें धार्मिक और वीरगाथात्मक गीतियों की प्रधानता है। दूसरा युग ईस्वी पूर्व ४०० से पहली शती तक का है जिसमें भक्ति-भाव प्रधान है। तीसरा काल सहज प्रेम गीतों का है। चौथे में प्रेमगीत तो हैं, किन्तु वे आध्यात्मिक और रहस्य के साथ वासना के रंगों से मिले-जुले होने के कारण अत्यन्त गहन और उलझे दिखाई पड़ते हैं।[1]

प्राचीन भारतीय गीतिकाव्यों में ज्यादातर धार्मिक और भक्तिपरक स्तुतियाँ ही प्राप्त होती हैं। वैदिक ऋचाएँ गायी जाती थीं। सामवेद इन स्तुतियों और सूक्तों के गाने का विधान प्रस्तुत करता है। इस प्रकार गेयता की मुख्य प्रवृत्ति इन गीतियों में वर्तमान है। वैदिक युग का भारतीय समाज बहुत-कुछ आदिम स्तर का कबीला समाज था। उसमें समूह-श्रम को

१. Hopkins, The Early Lyric Poetry of India, in the India new and old.

प्रथा थी। मनुष्य सामाजिक रूढ़ियों में आज की भाँति आबद्ध न था। उसके आहार-विहार स्वच्छन्द और उन्मुक्त थे। इन सब का प्रभाव इन गीतों पर दिखाई पड़ता है। बाद के स्तरों में सामाजिक असन्तुलन और उलझनों के कारण जीवन में जो एकरसता और संदेह की स्थिति बढ़ी, उसका प्रभाव पौराणिक देवों की स्तुतियों तथा रहस्यवादी अशरीरी उपासना के गीतों पर दिखाई पड़ता है। बाद के युग में सामन्तवादी व्यवस्था के कारण एक लम्बे अर्से तक गीतिकाव्य का विकास न हो सका। आश्चर्य तो यह देख कर होता है कि संस्कृत के इतने विशाल साहित्य में १०वीं शती के पहले कोई बहुत अच्छी श्रेणी का गीतिकाव्य नहीं लिखा जा सका। संस्कृत गीतिकाव्य का पुनर्विकास जयदेव के 'गीतगोविन्द' में दिखाई पड़ा। मध्यकालीन युग में संस्कृत जनभाषा नहीं रही। प्राकृतों का प्रभाव चौथी शताब्दी से ही बढ़ने लगा था। संस्कृत कवि प्राकृतों को स्वीकार तो करते थे, किन्तु इनका उपयोग ग्रामीण और असभ्य लोगों के वार्तालाप की भाषा के रूप में ही करते थे। इस तरह जनभाषा के प्रति उनके मन में तिरस्कार की भावना वर्तमान थी। संस्कृत राजकीय व्यक्तियों और अधिकार-प्राप्त (Privileged People) शिष्टजनों की भाषा रह गयी, उसमें अभिजात साहित्य की सृष्टि हो रही थी, वह जनसाहित्य से बहुत-कुछ विमुख बनी रही। फलत: जनता में उगने वाले गीतों के स्वर उनके लिए तूती की आवाज बने रहे। जिस समय संस्कृत काव्य जनधारा से विच्छिन्न हो कर चमत्कार और कुतूहल की सृष्टि को ही कवि-धर्म की इयत्ता मान रहा था, समस्यापूर्ति और चमत्कारोत्पादन को ही कवि-कौशल की सीमा माना जा रहा था, तब लोक-भाषा में एक नवीन प्रकार के साहित्य की सृष्टि हो रही थी, जो जनजीवन के रस से सिक्त था, जिसमें धरती की गन्ध और उन्मुक्त पवन की सुरभि रची हुई थी। इस साहित्य को जिसने पहचाना, समझा और सराहा वह बिना रँगे न रह सका, और जिसने इसके तत्त्व को स्वीकार किया, उसके संस्कृत में लिखे काव्य में भी जीवन की सरसता दिखाई पड़ी। ऐसे कवियों में जयदेव प्रमुख हैं।

उन्होंने पूर्वी प्रदेश में प्रचलित प्रेमगीतों को सुना था, सराहा था। उनके गीतों में इसलिए धरती की सोंधी गन्ध और प्रेम का उन्मुक्त विलास दिखाई पड़ता है। कुछ लोगों का खयाल है कि इस तरह गीत पूर्वी प्रदेशों में ही प्रचलित थे; क्योंकि बौद्धों के गान, चण्डीदास के पद और विद्यापति के गीत इसी क्षेत्र की उपज हैं। किन्तु जल, पवन, धरती जैसे किसी एक प्रदेश की वस्तु नहीं, फसलें सर्वत्र होती हैं, आकाश में इन्द्रधनुष और जल पर लहरें सर्वत्र बनती-बिगड़ती है, वैसे ही जनता के भाव मे गीतियों का जन्म-विकास सभी जगह समान रूप से होता है। उसमें जातिभेद सम्भव है, प्रकार भेद हो सकता है, किन्तु अभाव कहीं संभव नहीं। ११वीं शतो के क्षेमेन्द्र कवि ने भी इसी प्रकार का गीतिकाव्य लिखा था। अपने दशावतार वर्णन में कवि ने लिखा है कि जब गोविन्द मथुरापुरी को चले गये, तो वियोग-क्षिप्त-हृदया गोपियाँ गोदावरी के किनारे गोविन्द का गुण-गान करने लगीं। गोपियों ने जो गान गाया उसे कवि ने मात्रिक छन्दों में लिखा है। अनुमान किया जा सकता है कि क्षेमेन्द्र ने इस तरह के गान अपने आप-पास सुने होंगे—[1]

> ललितविलासकलासुख खेलन
> ललनालोभनशोभनयौवन
> मानितनवमदने
> अलिकुल कोकिलकुवलयकज्जल
> कालकलिन्दसुताविगलज्जल
> कालियकुलदमने

पद्य और बड़ा है। इसकी भाषा और शैली की समानता जयदेव के गीत-गोविन्द में ढूँढी जा सकती है।

हिन्दी के सर्वप्रथम गीतिकाव्य-लेखक विद्यापति हैं। विद्यापति मध्य-युगीन दरबारी कवियों की परम्परा में होते हुए भी जन-जीवन के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक थे। उन्होंने संस्कृत में कविताएँ कीं जरूर, किन्तु उनको

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल।

श्रद्धा का अधिकांश 'देसिलवयन' के लिए सुरक्षित था। विद्यापति के मधुर 'गीतों' का प्रभाव सारे पूर्वी प्रदेश पर पड़ा। बंगाल के कवियों ने, चण्डी-दास तक ने इन गीतों को आदर्श के रूप में ग्रहण किया और उनकी भाषा तक को स्वीकार किया। भक्तिकाल में गीतों के साथ प्रबंध लिखने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। लेकिन प्रबन्ध लिखने में मुसलमान कवि आगे थे। इसका मूल कारण था कि वे मुगल साम्राज्य के संरक्षित कवि थे, मुसलमानी राज्य के वे विरोधी न थे। तुलसी का काव्य अवश्य ही विरोधी समाज के प्रतिनिधि लेखक की कृति है, किन्तु तुलसी सचेष्ट रूप से एक ओर मध्ययुगीन क्लैसिक महाकवियों की परम्परा में अपने को रखना चाहते थे, तो दूसरी ओर वे मर्यादा और सामाजिक रूढ़ियों के विरोधी कवि न थे, जो एक गीतिकार को होना चाहिए। इस युग में गीतिकाव्य प्रायः कृष्णभक्त कवियों ने लिखे। प्रेम और भक्ति की मूलधारा इस में सुरक्षित है। कृष्णभक्त कवि तुलसी की तरह न तो मर्यादावादी थे और न पुरानी रूढ़ियों के समर्थक। इसलिए उनके काव्य में गीतों की प्रवृत्ति को काफी प्रोत्साहन मिला।

किन्तु मध्ययुग के इस भक्ति-रीति साहित्य में गीतिकाव्य की शुद्ध प्रकृति का स्पष्ट आभास नहीं मिलता। प्रगीत मुक्तकों का जो विशाल साहित्य लिखा गया है उसमें गेयता है, व्यक्तिपरकता भी कुछ अंशों में मिलेगी, किन्तु इसमें गीतात्मक पूर्णता का रूप नहीं मिलता। परवर्ती कवि दरबारी थे, जन-जीवन से दूर, इसलिए इनके काव्य में एकविधिता (Sterotype) मिलेगी। वास्तविक गीतिकाव्य का उदय छायावादी युग में हुआ जो सामाजिक रूढ़ि और सामन्तवादी व्यवस्था का विरोधी युग था। इस युग के काव्य ये व्यक्तिवादी स्वर की अत्यन्त प्रधानता है। कवि को उसके इस अतिवादी रूप को देखकर लोगों ने कभी-कभी पलायन-वादी तक कहा, किन्तु छायावादी पलायन-प्रवृत्ति के भीतर देखने पर व्यक्ति-वादी अहम् तथा असंतोष की जो शक्ति दिखाई पड़ती है, वह अनन्य है।

गीतिकाव्य के विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह कोई वस्तु नहीं है जो पलायन, भावुकता और बुद्धि-विरोधिता को प्रश्रय देती है। यूरोपीय

आलोचकों ने तो यह भी स्वीकार किया है कि विचारात्मक वस्तु भी इस काव्य-माध्यम से व्यक्त की जा सकती है। उन्होंने वीरगाथात्मक और आध्यात्मिक अनुभूतियों को भी इस काव्य का परिगृहीत वस्तुतत्त्व माना है। ऐसी अवस्था में यह कहना कि वर्तमान युग में यह माध्यम अनुपयुक्त हो गया है, कोई खास अर्थ नहीं रखता। इस गीति-प्रवृत्ति को स्वीकार करके, आवश्यकतानुसार परिवर्तन और परिष्कार करके नये सन्दर्भ में भी इसका उपयोग किया जा सकता है। एक ओर जहाँ रूप इसके प्रयोग द्वारा कविता को निरा गद्य काव्य होने से बचा लेंगे, वहीं दूसरी ओर काव्य के तथ्य को ज्यादा व्यापक समाज तक पहुँचाने में समक्ष होंगे। मध्ययुग के बहुत-से विचारकों—कबीर आदि ने सिद्धों और सन्तों ने इस तरह के प्रयोग किए थे। खतरा यह अवश्य है कि हम गीतिकाव्य को प्रश्रय देने के जोश में व्यक्ति-केन्द्रित होकर समाजविरोधी या उपेक्षात्मक ढंग से आत्मरति ही में गर्क न हो जाएँ।

●

विद्यापति के गीत

गीति-काव्य के उपर्युक्त विवेचन और उससे उपलब्ध तत्त्वों को दृष्टि में रख कर विद्यापति के गीतों का विश्लेषण करने पर उसकी बहुत-सी विशेषताओं और त्रुटियों का पता चलता है। विद्यापति के गीतों की सब से बड़ी विशेषता है, संगीतात्मकता। संगीत गीतों में दो प्रकार से संलक्ष्य हो सकता है। एक तो यह है कि वे गीत विभिन्न वाद्यों के साथ किसी प्रणाली में गाये जा सकते हों, दूसरा यह कि संगीत की मूल-भूत विशेषता यानी लय और उसकी आत्मा की गीतों में अवस्थिति। स्पष्टतः यों कहा जा सकता है कि बहुत-से गीत शास्त्रीय संगीत में गाये जाकर या कवि द्वारा निश्चित राग-रागिनी में आबद्ध होकर संगीत का विषय बनते हैं। किन्तु बहुत-से गीत ऐसे हैं जिन्हें असंगीतज्ञ मनुष्य भी अपने मन में दुहरा कर उनकी लयमयता से, उनके भीतर निहित संगीतात्मक तत्त्व से आनन्द प्राप्त करता है। विद्यापति स्वयं एक बहुत बड़े संगीतज्ञ थे, मैं गायक नहीं कहता; क्योंकि इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता, वैसे अपने बहुत-से पदों के अन्त में वे सर्वत्र 'विद्यापति कवि गाओल' ही लिखते हैं। गीत की जानकारी का पता दो प्रकार से चलता है। एक तो कवि ने अपने गीतों के लिए राग-रागिनियों का निर्णय कर दिया है—डॉ० सुभद्र झा द्वारा सम्पादित 'विद्यापति-गीत-संग्रह' में जितने भी पद दिए हुए है वे सभी राग-बद्ध हैं। इस संग्रह के आरम्भिक छप्पन गीत मालव राग में, सत्तावन से एक सौ तीस तक के गीत धनछरी राग मे, एक सौ इकतीस से एक सौ पैंतीस तक आसावरी राग में, एक सौ छत्तीस से १४६ तक मालारी राग में, १४७वाँ सामरी राग में, १४८वं से १५४वें तक अहिरानी राग में, १५५वें से १५७ तक केदार राग में, १५८ से १६२ तक कानड़ा

राग में, १६३ से १९४ तक कोलर राग में, १९६ से २०२ तक सारंगी राग में, २०३ से २०७ तक गुंजरी राग, तथा आगे भी कई पद वसन्त विभास, नाटराग, ललित, वरली आदि रागों में दिए हुए हैं। ये राग कवि द्वारा निर्धारित हो सकते हैं, किसी दूसरे संगीतज्ञ द्वारा भी ये राग-बद्ध किये गए, ऐसा भी हो सकता है। वैसे विद्यापति के कुछ गीतों में शब्दों के साथ कहीं-कहीं लेखक ने वाद्य स्वरों को भी दे दिया है, जैसे ये गीत गाये जाने के लिए ही लिखे गये थे, यथा :

वाजत द्रिगि द्रिगि धौद्रिम द्रिमिया
नटति कलावति माति श्याम सँग
कर करताल प्रबंधक ध्वनिया । २ ।
डम डम डंफ डिमिक डिम मादल
रुन झुन मंजीर बोल ।
किंकिन रन रनि वलआ कनकनि
निधुवन रास तुमुल उतरोल । ४ ।
बीन रवाब मुरज स्वर मंडल
सा, रि, ग म प ध नि सा बहु निधि भाव
घटिता घटिता धुनि मृदंग गरजनि
चंचल स्वर मंडल करु राव । ६ ।
स्रम भर गलित लुलित कबरीयुत
मालति माल विथारल मोति
समय वसंत रास रस वर्णन
विद्यापति मति छोभित होति । ८ ।

ऐसे पदों को देखने से विद्यापति न केवल संगीतप्रेमी बल्कि संगीतज्ञ प्रतीत होते हैं। संगीतज्ञ कवियों में बैजू बावरा और गोपाल नायक का जिक्र हमने भक्ति काल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के पर्यवेक्षण के सिलसिले में पीछे किया है। इन कवियों की कविताओं में भी शब्दों के बीच में ताल और स्वर के संकेत दिये हुए हैं। बैजू, गोपाल आदि न केवल संगीतज्ञ थे; बल्कि उच्चकोटि के भक्तिपूर्ण पदों के रचयिता भी। मध्यकालीन कवि के लिए संगीतज्ञ होना तब आवश्यक

भी था, इसलिए भक्तिकाल के हिन्दी कवियों ने भी अपनी कविताओं के राग-आदि निश्चित कर दिये हैं।

लेकिन बहुत-से गीत ऐसे हैं जो संगीत के तत्त्वों से स्पष्टतया बाधित न होकर अपनी आत्मा की संगीतमयता के कारण हमें प्रभावित करते हैं। ऐसे गीत मन में निहित व्यक्तव्य भाव के अनुकूल ही लय का निश्चित रूप लेकर अवतरित हुए हैं। इन गीतों में जैसे मानव मन में परम्परा, संस्कार और सुख-दुःख के हजारों क्षणों में प्राप्त अनुभूतियों की लहर की कम्पन है, ये गीत-मानव मन में अभिलषित भाव के साथ इतना शीघ्र तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं कि जैसे ये हमारे मन की उपज हों। इसी कारण इस प्रकार के गीत संगीत की बाह्य परिपाटी से अनुचालित न होकर मनुष्य के मन में अवस्थित शाश्वत संगीत से प्रेरित होते हैं। इन पदों में शब्द और अर्थ की गुरुता नहीं होती, इनके शब्द अत्यन्त सहज और बहुप्रचलित शब्द सांकेतिक ढंग से भाव की अभिव्यक्ति कर देते हैं। ऐसे शब्द जो सैकडों वर्षों से जन-मानस में उसी अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होते आ रहे हैं—इसी कारण ऐसे पदों में भाव की अभिव्यक्ति शब्द से नहीं, लय की आत्मा के आधार पर होती है, जैसे :—

कुंज भवन सँय निकसलि रे
रोकल गिरधारी

एकहिं नगर वस माधव रे
जनि कर बटमारी

छाड़ कन्हैया मोर आँचर रे
फाटत नव सारी

अपजस होएत जगत भरि रे
जनि करिअ उघारी

सँग क सखी अगुआइल रे
हम एकसरि नारी

दामिनि आए तुलाइल रे
एक राति अँधियारी

शब्द निर्व्याज सहज हैं, अलंकरण का कहीं नाम नहीं, पूरे पद में एक खास प्रकार का उल्लास भरा आग्रह, लय की बार-बार टूटती-उठती मनुहार और इन सबके ऊपर ऐसे सहज शब्दों के प्रयोग जो इस गीत को प्राणवान बनाते हैं। एक बात और ध्यान देने की है। कवि ने बड़ी योग्यता से ऐसे गीतों में भाव को एकसूत्रता की भी रक्षा की है। वैसे उस गीत की सहजता के भीतर अर्थ की कमी नहीं है, संकेत प्रचुर हैं--सब कुछ ऊपर से कहा जा रहा है, सखी का निर्जन में होना, बिजली की भयकारी स्थिति, जिसे उन्होंने बिजली का तुलाइत, तुलित होना कहा है तथा रात की अँधियारी गोपी के प्रेमोच्छ्वास के संकेत हैं, आवर्जन के नहीं।

ऐसे गीतों मे इतना सहजता क्यों है? आधुनिक कवियों की कविताओं में खास तौर से गीतों मे लाक गीतों की धुन, शब्दावली और सहजता को ग्रहण करन का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। ऐसे गीतों की प्रशंसा भी इधर खूब हुई है और छायावादी गीतकार भी प्रयोगवादी बनने के लाभ से इसी आसान ट्रिक को अपनाने लगे हैं; पर इसमें सबसे बड़ी गड़बड़ी यह दिखाई पड़ती है कि इन गीतों में भाव की सहजता नहीं आती, केवल लोक-धुन पकड़ लेने से मध्यवर्गीय जीवन के कुंठाग्रस्त भावों में सहजता लाना असम्भव है। इसके लिए भावों की ईमानदारी और अनुभूतियों की एकाग्रता अपेक्षित है। विद्यापति के गीतों में लोक गीतों की केवल धुन ही नहीं उनकी सहजता और गम्भीरतम अनुभूतियों की व्यंजना हुई है, इसी कारण ये गीत बहुत अधिक संवेद्य हो पाये हैं। विद्यापति जैसे दरबारी कवि के लिए लोकगीतों की ओर आकृष्ट होना ही बडी बात थी, उन्होंने इस आकर्षण को फैशन के लिए ग्रहण नहीं किया, जैसा कि आजकल बहुत से कवि किया करते हैं। इतना ही नहीं विद्यापति के कई गीत इतने अधिक लोकतत्व ग्राही हैं कि वे बिल्कुल लोक-गीत मालूम पड़ते हैं। जैसे :

मोरे रे अँगनवाँ चनन केरि गछिया
ताहि चढ़ि कुररय काग रे

सोने चोंच बाँधि देब तोयँ बायस
जयों पिया आवत आज रे
गावह सखि सब झूमर लोरी
मदन अराधन जाउँ रे
चओ दिसि चम्पा मओली फूलल
चान इजोरिया रात रे
कइस कय मोयँ मयन अराधब
होइलि बड़ि रति सात रे
विद्यापति कवि गाएब तोहर
पहु अछ गुनक निधान रे
राओ भोगीसर सब गुन आगर
पदमा देइ रमान रे

प्रोषितपतिका का काक-शकुन-सम्भाषण हमारे लोक-गीतों का एक बहुप्रचलित विधान है। अपभ्रंश की लोक-जीवन-संपृक्त रचनाओं में भी 'वायस उड्डावन्तिए' में नायिका का यह प्रेम-विह्वल भाव दिखाई पड़ता है। एक दूसरी कविता की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं। इसमें भी लोक-गीतों की अनलंकृत, सुन्दरता और भावों की सहजता दिखाई पड़ती है :

सुतलि छलहुँ हम घरवा रे
गरवा मोतीहार
राति जखनि भिनुसरवा रे
पिया आएल हमार
कर कौसल कर कपँइत रे
हरवा उर टार
कर पंकज उर थपइत रे
मुख चन्द निहार
केहनि अभागलि बैरनि रे
भागलि मोर निन्द

भल कए नहिं देखि पाओल रे
गुनमय गोविन्द

विरहिणी गोपी का यह स्वप्न और उस स्वप्न में भी प्रिय के स्पर्श के कल्पित सुख का असमय नींद टूट जाने के कारण तिरोधान तथा इससे उत्पन्न एक निविड वेदना का कितना सहज और स्वाभाविक चित्रण हुआ है। विरहिणी अपने प्रिय के प्रत्येक स्पर्श का वर्णन कितनी ईमानदारी और निश्छल भाव के साथ करती है।

विद्यापति के गीतों पर जयदेव का प्रभाव भी कम नहीं पड़ा। अभिनव जयदेव की उपाधि इसी विशेषता को दृष्टि में रखकर दी गई थी। जयदेव का प्रभाव न केवल प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं के चित्रण और आंगिक मिलन के विविध प्रसंगों में दिखाई पड़ता है बल्कि गीतों की भाषा, शब्द-चयन तथा धुन और लय मे भी स्पष्ट उभरता दिखाई पड़ता है। जयदेव के गीतों का प्रभाव दुर्निवार था भी। पिछले खेवे के बहुत-से कवियों ने इस शैली का अनुकरण किया। विद्यापति के और जयदेव के गीतों में प्रायः सदृश शब्दों या पदावलियों का व्यवहार हुआ है, हम पीछे स्थान-स्थान पर इस ओर संकेत कर चुके हैं।

विद्यापति संभवतः अपने काल के इस तरह के अद्वितीय कवि थे जिन्होंने गीत को उसकी स्वाभाविक प्रकृति को पहचान कर एक अभिनव पूर्णता और उत्कर्षता प्रदान की। सूर और मीरा भी संगीतात्मकता को अपने गीतों में संजोते हैं, पर विद्यापति की सहजता इनमे नहीं है। कारण विद्यापति की अद्भुत लोक-जीवन सम्पृक्तता है जो उन्हें अपने युग के अन्य गीतकारों से अलग करती है। विद्यापति अच्छे संगीतज्ञ प्रतीत होते हैं, पर उन पर ग्वालियर घराने के प्राचीन संगीत का प्रभाव नहीं है, जैसा सूर और मीरा दोनों पर जाने-अनजाने पड़ा है। इसी कारण विद्यापति में लय और तर्ज की मौलिकता तो है ही, एक अछूती भाव सम्वेदना को व्यक्त करने में समर्थ ग्राम्यता—या नैसर्गिकता भी दिखाई पड़ती है। इसी कारण विद्यापति के गीत एक व्यापक जन समाज के गले के कण्ठहार बन सके। इन गीतो में इतनी आत्मीयता और निकटता भरी है कि अपढ़, गँवार व्यक्ति भी इनका पूरा प्रभाव ग्रहण कर लेता है। यह एक अद्भुत कौशल है। क्योंकि विद्यापति जैसा बहुपठ और शास्त्रीय ढंग के अनेक ग्रंथों का रचयिता बहुत प्रयत्न से ही लोक जीवन की अभिव्यक्ति सहजता को कायम रख सकता था।

●

अवहट्ठ काव्य

शौरसेनी अपभ्रंश का परवर्ती रूप अवहट्ठ के नाम से अभिहित होता है। अवहट्ठ शब्द मे स्वयं कोई ऐसा संकेत नहीं जिसके आधार पर हम इसे शौरसेनी का परवर्ती रूप मानें क्योंकि संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश वाङ्मय मे जहाँ भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है इसका अर्थ अपभ्रंश ही है। ज्योतिरीश्वर[1] ठाकुर के वर्णरत्नाकर (१३२५ ईस्वी) और विद्यापति की कीर्त्तिलता[2] (१४०६ ईस्वी) के प्रयोगों के और पहले से इस शब्द का उल्लेख मिलता है। १२वीं शती के अद्दहमाण ने अपने संदेशरासक मे भाषात्रयी और उनके लेखकों को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए कहा है :

अवहट्टय सक्कय पाइयंमि पेसाइयंमि भासाए
लक्खण छन्दाहरेण सुकइत्तं भूसियं जेहि
ताणउणु कईण अम्हारिसाण सुइसद्दसत्थ रहियाण
लक्खछन्दपमुक्क कुकवित्तं को पसंसेई। (सं० रा०, ६–७)

अद्दहमाण ने भी संस्कृत प्राकृत के साथ अवहट्ठ का नाम लिया है। ज्योतिरीश्वर और विद्यापति के संस्कृत प्राकृत के बाद ही इस शब्द का

---

१. पुनु कइसन भाट संस्कृत प्राकृत, अवहट्ठ पैशाची, शौरसेनी मागधी छहु भाषा का तत्संज्ञ, शकारी, आभिरो, चांडाळी, सावली, द्रावली, औतकली विजायिना सातहु उपभाषाक कुशलह। वर्णरत्नाकर, ५५ ख। डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या और बबुआ मिश्र द्वारा संपादित, कलकत्ता १९४० ई०।

२. सक्कय वाणी बुहअन भावइ, पाउअ रस को मम्म न पावइ
देसिल ब अना सबजन मिट्ठा, तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा।
(कीर्त्तिलता, १।१९-२२)

कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा, डॉ० शिवप्रसाद सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, द्वितीय संस्करण, १९६४।

उल्लेख किया है। संस्कृत, प्राकृत के बाद अपभ्रंश शब्द का प्रयोग संस्कृत आलंकारिकों ने एकाधिक बार किया है। षट्भाषा प्रसंग में संस्कृत, प्राकृत के बाद अपभ्रंश की गणना का नियम था। मंख कवि के श्रीकण्ठ-चरित की टीका से पता चलता है कि छः भाषाओं में संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी (अपभ्रंश), मागधी, पैशाची, देशी को गणना होती थी :

संस्कृतं प्राकृतं चैव शूरसेनी तदुद्भवा
ततोऽपि मागधी प्राग्वत् पैशाची देशजाऽपि च।

९वीं शती के संस्कृत आचार्य रुद्रट ने काव्यालंकार में ६ भाषाओं के प्रसंग में अपभ्रंश का नाम लिया है :

प्राकृतं संस्कृतं मागध पिशाचभाषाश्च शौरसेनी च
षष्टोत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः।
(काव्यालंकार, २।१)

ऊपर के श्लोक को छः भाषायें वही हैं जो ज्योतिरीश्वर ने वर्णरत्नाकर में गिनाई हैं। इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश और अवहट्ठ दोनों का सर्वत्र समानार्थी प्रयोग हुआ है। अद्दहमाण और विद्यापति ने भी अवहट्ठ का प्रयोग अपभ्रंश के लिए ही किया है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की यह भाषात्रयी भी वैयाकरणों और आलंकारिकों द्वारा बहुचर्चित रही है।

इन तीनों प्रयोगों से भिन्न प्राकृतपैंगलम् के टीकाकार वंशीधर ने अवहट्ठ को प्राकृतपैंगलम् की भाषा कहा है। प्राकृतपैंगलम् के प्राकृत शब्द से, इस ग्रन्थ का संकलनकर्ता या लेखक १३वीं शती के आरम्भ में इस पिंगल शास्त्रग्रन्थ के सम्पादन के समय, सम्भवतः 'अवहट्ठ' का अर्थबोध कराना नहीं चाहता था, उसके लिए इस ग्रन्थ की भाषा 'प्राकृत' थी। किन्तु परवर्ती काल में इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का टीकाकार वंशीधर इसकी भाषा को प्राकृत न कह कर अवहट्ठ कहता है। पाकृतपैंगलम् की पहली गाथा की टीका में टीकाकार लिखता है :

पढमं भास तरंडो
णाओ सो पिंगलो जअइ (१ गाहा)

टीका—प्रथमा भाषा तरंडः प्रथम आद्य भाषा अवहट्ठ भाषा यया भाषया अयं ग्रन्थो रचितः सा अवहट्ठ भाषा तस्या इत्यर्थः स तप्प पारं प्राप्नोति तथा पिंगल प्रणीत छन्दशास्त्रः प्राययावहट्ठभाषा रचितैः तद् ग्रन्थ तारं प्राप्नोतीति भावः सो पिंगल णाओ जअइ, उत्कर्षेण वर्तते।

(प्राकृतपैंगलम्, पृ० ३)

ग्रन्थ का लेखक आरम्भ में भाषा को तरंड (नौका) कह कर उसकी वन्दना करता है और बाद में छन्दशास्त्र के आद्याचार्य नाग पिंगल की जयकार करता है। वंशीधर ने सम्भवतः 'पढम' का अर्थ भाषा के लिए लगा लिया जब कि वह वन्दना के तारतम्य का संकेत है, पहले भाषा की तब आचार्य की। यद्यपि वंशीधर ने प्रथम का अर्थ आद्यभाषा किया फिर भी निःसंकोच इसे अवहट्ठ भाषा ही कहा। अवहट्ठ को आद्य भाषा क्यों कहा जाय, इसका कोई स्पष्टीकरण वंशीधर ने नहीं प्रस्तुत किया। सम्भवतः आद्यभाषा से उनका तात्पर्य नव्य आर्य-भाषाओं का आरंभिक भाषा यानी उद्भावक भाषा से था। अवहट्ठ का कोई संकेत लेखक ने नहीं दिया था किन्तु १७वीं शती के टीकाकार ने इस भाषा को अवहट्ठ नाम दिया। यही नहीं एक दूसरे स्थान पर वंशीधर ने इस भाषा के व्याकरणिक ढाँचे की मीमांसा करते हुए लिखा है : इस भाषा यानी अवहट्ठ में पूर्व निपातादि नियमों का अभाव है इसलिए पद-व्याख्या करते समय गड़बड़ी को दूर करने के लिए अन्वयादि की यथोचित योजना कर लेनी चाहिए :

'अवहट्ठभाषायां पूर्वनिपातादिनियमाभावात् यथोचित योजना कार्या सर्वत्रेति बोध्यम्।' (प्राकृतपैंगलम्, पृ० ४१८)

वंशीधर ने इस वाक्य के द्वारा अवहट्ठ भाषा में निर्विभक्तिक प्रयोगों की बहुलता देख कर यह चेतावनी दी है। निर्विभक्तिक पदों का प्रयोग शौरसेनी अपभ्रंश, यहाँ तक कि हेमचन्द्र के दोहों में भी, कम से कम हुआ है, किन्तु नव्य आर्य-भाषाओं में इस प्रकार की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल दिखाई पड़ती है, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के वाक्य-विन्यास की सविभक्तिक प्रयोग-

वाली विशिष्टता नई भाषाओं में समाप्त हो गई, इस अनियमितता के कारण परसर्गों की सृष्टि करनी पड़ी और वाक्य गठन में स्थान वैशिष्ट यानी कर्ता, कर्म, क्रिया की निश्चित तरतीब को स्वीकार करना पड़ा। यह प्रवृत्ति जैसा वंशीधर के संकेत से स्पष्ट है; अवहट्ठ भाषा में वर्तमान थी, इस प्रकार वंशीधर का अवहट्ठ भाषाशास्त्री विवेचन के आधार पर अपभ्रंश के बाद की स्थिति का संकेत करता है।

इस स्थान पर एक और पहलू से विचार हो सकता है। अवहट्ठ, जैसा कि अपभ्रंश शब्द का विकसित रूप है, क्यों १२वीं शती के बाद ही प्रयुक्त हुआ? पहले के लेखक, आचार्य इस भाषा को अपभ्रंश कहते थे। अपभ्रंश में निहित 'च्युति' को संलक्ष्य करके इस भाषा के प्रेमी लेखक इसे देशी भाषा, लोक भाषा आदि नामों से अभिहित करते थे। स्वयंभू[1], पुष्पदंत[2], जैसे गौरवास्पद कवि इस भाषा को देसी कहना ही पसन्द करते थे, उन्होंने अपभ्रंश नाम का कम से कम प्रयोग किया। संस्कृत आलंकारियों ने तिरस्कार से यह नाम 'पामरजन' की बोली को दिया, उसी का वे प्रयोग भी करते रहे, अपभ्रंश उनका ही दिया नाम था। बाद में यह अपभ्रंश अवहट्ठ हो गया, प्रयोग में आते-आते इसके भीतर निहित तिरस्कार की भावना समाप्त हो गई। अपभ्रंश विकसित होकर राष्ट्रव्यापी हुआ और उसका निरन्तर विकासमान रूप बाद में अवहट्ठ कहा जाने लगा। पूर्ववर्ती अपभ्रंश प्राकृत प्रभाव से विजड़ित एक रूढ़ भाषा थी, परवर्ती कवियों अद्दहमाण, विद्यापति या प्राकृतपैंगलम् के लेखक ने इसे 'देसिलवयना' के स्तर पर उतार कर लोकप्रवाह से अभिषिक्त करके नया रूप दे दिया, इस नये और विकसित रूप की भाषा को इन कवियों ने अपभ्रंश नहीं अवहट्ठ यानी एक सीढ़ी और बाद की भाषा कहा।[3]

---

१. दीह समास पवाहा वंकिय सकय पायय पुलिणा लंकिय
देसी भाषा उभय तडुज्जल कविदुक्कर घण सद्द सिलायल (पउमचरिउ)।

२. वायरणु देसि सदस्थ गाढ़ (पसणाहचरिउ)।
ण विणयामि देसी (महापुराण)।

३. अवहट्ठ सम्बन्धी विशेष विवेचन के लिए द्रष्टव्य : लेखक की पुस्तक कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, द्वितीय संस्करण, १९६४।

विद्यापति ने देसिल बयना की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि उसी तरह के अवहट्ठ में कीर्तिलता काव्य लिखूँगा :

देसिल वयना सव जन मिट्ठा
तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा

इन 'तैसन' को लेकर विद्वानों ने बहुत व्यर्थ की माथापच्ची की है। वस्तुतः विद्यापति देसिल वयना से अपनी भाषा मैथिली को सम्बोधित करते हैं, जब कि अवहट्ठ तत्कालीन सर्वमान्य साहित्यिक भाषा थी।

वैसे विद्यापति की पदावली की भाषा को भी लोचन ने अपनी राग-तरंगिणी में 'मिथिलापभ्रंश' ही कहा। अपभ्रंश शब्द का प्रयोग बहुत ही ढीले-ढाले अर्थ मे होता था। कुछ लोग इसी मिथिलापभ्रंश शब्द को लेकर कीर्तिलता की भाषा को भी मिथिलापभ्रंश ही कहने लगे। पर लोचन कवि ने तो अपने मिथिलापभ्रंश का साफ अर्थ भी लिख दिया है :

देश्यामपि स्वदेशीयत्वात् प्रथमं मैथिलापभ्रंशभाषायां
श्री विद्यापतिनिवद्धास्ता मैथिलीगीतगतयः प्रदर्श्यन्ते

लोचन कवि स्पष्टतः विद्यापति के गीतों की मैथिली भाषा को मिथिला-पभ्रंश कहते हैं कीर्तिलता की भाषा के लिए उन्होंने ऐसा नहीं कहा है। अपभ्रंश का अर्थ उनके लिए देशी भाषा था इसीलिए उन्होंने 'देश्याम्' लिखा।

पदावली की भाषा[1] मैथिली है, इसमें शक नहीं; पर उस पर अवहट्ठ (परवर्ती शौरसेनी अपभ्रंश) का भी कम प्रभाव नहीं है इसी कारण विभक्तियों और परसर्गों में तथा कुछेक क्रिया रूपों में पश्चिमी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है।

१४वीं शताब्दी में उत्तर भारत की भाषा स्थिति का पर्यवेक्षण करने पर कुल छः प्रकार की भाषाएँ प्रचलित दिखाई पड़ती हैं।

१४वीं शताब्दी में प्रचलित भाषाओं के विश्लेषण के आधार पर

---

१. पदावली की भाषा के लिए द्रष्टव्य : शिवनन्द ठाकुर का महाकवि विद्यापति, तथा डॉ० सुभद्र झा का सांग्स ऑव विद्यापति।

तत्कालीन उत्तर भारत की भाषा-स्थिति का कुछ अनुमान नीचे की सूची से हो सकता है।

(१) संस्कृत-प्राकृत--दोनों साहित्यिक भाषायें जनता से कटी हुई, थोड़े-से लोगों के बुद्धि-विलास की वस्तु रह गई थी, फिर भी इनमें काव्य-प्रणयन हो रहा था, श्रीहर्ष का नैषध तत्कालीन संस्कृत और समराइच्च कहा आदि प्राकृत भाषा के आदर्श ग्रन्थ हैं।

(२) शौरसेनी अपभ्रंश का साहित्यिक रूप--जैन लेखकों की रूढ़ अपभ्रंश आदर्श। शालिभद्र सूरि (११८४ ईस्वी), लक्खण (१२५७ ईस्वी) आदि की रचनाएँ इस श्रेणी में आती हैं।

(३) शौरसेनी का परवर्ती अवहट्ठ रूप, सिद्धों के दोहे, कीर्तिलता, अद्दहमाण के सन्देशरासक के दोहे इस भाषा के आदर्श हैं।

(४) अवहट्ठ और राजस्थानी के किंचित् मिश्रण से उत्पन्न पिंगल। प्राकृतपैंगलम्, प्राचीन रासो काव्य रणमल्ल छन्द आदि इस भाषा के आदर्श। चारण शैली की भाषा।

(५) पश्चिमी प्राचीन राजस्थानी या गुजराती मिश्रित अपभ्रंश जिसमें शौरसेनी का कम प्रभाव न था, यह भी साहित्यिक भाषा हो गई थी, तेसीतोरी ने इसका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है।

(६) देश अपभ्रंशों से विकसित जनभाषायें--प्रारम्भिक मैथिली, राजस्थानी, गुजराती, आदि।

विद्यापति की पदावली की भाषा मूलतः नम्बर ६ के अन्तर्गत सम्मिलित मैथिली है, इसमें शक नहीं, पर इस पर नं० ३ और ४ का प्रभाव भी कम नहीं है।

अवहट्ठ भाषा में विद्यापति ने कीर्तिलता, कीर्तिपताका और कुछ फुटकल रचनायें लिखीं। कीर्तिलता का सबसे पहला संस्करण बंगला में महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री के सम्पादन में बंगीय सन् १३३१ अर्थात् ईस्वीय १९२४ में प्रकाशित हुआ। ईस्वी सन् १९२२ में शास्त्री जी नेपाल गए और वहीं से कीर्तिलता की प्रतिलिपि ले आये। कीर्तिलता का पहला संस्करण होने के कारण

इसमें पाठ और अर्थ कई भूलें हैं किन्तु शास्त्री जी का यह कार्य सर्वथा प्रशंसनीय और गौरवास्पद है, इसमें शक नहीं। ईस्वीय सन् १९२९ में डॉ० बाबूराम सक्सेना के सम्पादन में कीर्तिलता का हिन्दी संस्करण काशी नागरी प्रचारिणी सभा में प्रकाशित हुआ। यह संस्करण शास्त्री जी के बंगीय संस्करण के बाद प्रकाशित हुआ सक्सेना जी के पास शास्त्री जी की अपेक्षा सामग्री भी अधिक थी; किन्तु अभाग्यवश यह संस्करण बँगला संस्करण से अच्छा और कम त्रुटि-पूर्ण न हो सका। १९५५ ईस्वी में इन पंक्तियों के लेखक ने कीर्तिलता का नया संशोधित पाठ, उसकी भाषा के विस्तृत विश्लेषण और पाठ-शोध के साथ साहित्य भवन लिमिटेड प्रयाग से प्रकाशित कराया। कीर्तिलता के विषय में इस संस्करण मे विस्तार से विचार किया गया है, इसलिए उसे यहाँ दुहराना आवश्यक नहीं मालूम होता।

कीर्तिपताका का पुस्तक अब तक प्रकाशित नहीं हो सकी है। बहुत दिनों तक इस पुस्तक की प्राप्ति में ही आशंका बनी रही, इधर पटना कालेज में इसकी प्रति की फोटो-कापी के आने की सूचना मिली है, किन्तु जब तक यह सम्पादित होकर प्रकाशित नहीं हो जाती, इसका काव्यगत मूल्याङ्कन संभव न हो सकेगा।

इन दो बड़ी रचनाओं के अतिरिक्त विद्यापति ने दो तीन फुटकल रचनायें भी अवहट्ठ में लिखीं, किन्तु इनका साहित्यिक मूल्य नहीं के बराबर है। डॉ० विमानविहारी मजूमदार—सम्पादित विद्यापति में पद संख्या ८ और ९ के अन्तर्गत दो रचनायें दी हुई हैं।

ऐसी दशा में यहाँ केवल कीर्तिलता का ही मूल्याङ्कन प्रस्तुत किया जा रहा है।

कीर्तिलता की भाषा को देखते हुए सहसा किसी पाठक को विश्वास नहीं होता कि कीर्तिलता को भी गीतकार विद्यापति ने ही लिखा है। किन्तु 'अवहट्ठ' भी हठीली शब्द-योजना के भीतर प्रवेश करने पर किसी भी सहृदय को 'गीतों के गायक' को पहचान सकना कठिन न होगा। जीवन की समष्टि और समग्रता कल्पना के एक क्षण की तुलना

में कठोर-क्रूर होती ही है, और कवि के लिए तो यह सहसा एक चुनौती भी है कि उसकी विधायिका शक्ति इन तमाम क्रूरता-कठोरता को कैसे अभिव्यक्ति दे पाती है। इस दृष्टि से कीर्तिलता के पाठक को एक नए तरह के रस का आस्वाद मिलेगा। इसमें जीवन की तिक्तता, कसैलापन और मिठास सभी कुछ है। विद्यापति का भावुक कवि कीर्तिलता में जैसे जीवन के वास्तविक धरातल पर उतर आया है। और यथार्थ का यह धरातल एक बार के लिए कवि के मन में भी आशंका का बीजारोपण कर ही देता है; फिर भी उनके मन को विश्वास है कि चाहे असूयावृत्ति के दूर्जन इस काव्य को निन्दा ही क्यों न करें, काव्यकला के मर्मी इसकी अवश्य प्रशंसा करेंगे।

का परबोधओ कवण मणावओ। किमि नीरस मने रस लए लावओ॥
जइ सुरसा होसइ मझु भासा। जो बुज्झिइ सो करिह पसंसा॥
महुअर बुज्झइ कुसुम रस कब्ब कलाउ छइल्ल
सज्जन पर उअआर मन दुज्जन नाम मइल्ल

शंकर के मस्तक पर सुशोभित द्वितीया के चन्द्रमा की तरह विद्यापति की यह कृति प्रशंसित होगी, ऐसा कवि का विश्वास है और इसमे सन्देह नहीं कि उनका यह विश्वास आधारहीन नहीं है।

कीर्तिलता का काव्यरूप

मध्यकाल के साहित्य में वृत्तान्त-कथन की तीन प्रमुख शैलियाँ दिखाई पड़ती हैं। परवर्ती संस्कृत साहित्य के चरित काव्य या ऐतिहासिक काव्यों की शैली, दूसरी कथा-आख्यायिकाओं की शैली और तीसरी प्रेमाख्यानकों की मसनवी शैली जो पूर्णतः विदेशी प्रभाव से विकसित हुई थीं।

संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों की शैली भी बहुत प्राचीन नहीं मालूम होती। विद्वानों की धारणा है कि ६वीं-७वीं शताब्दी के आस-पास मुसलमानों के सम्पर्क से इस प्रकार की शैली का उदय हुआ है। यह सत्य है कि पिछले खेवे में जिस प्रकार के ऐतिहासिक काव्य लिखे गए वैसे काव्य पूर्ववर्ती साहित्य में नहीं मिलते किन्तु इतिहास को कल्पना और अति-

शयोक्ति के आवरण में ही सही काव्य का उपकरण अवश्य समझा जाता था। भारतीय कवि इतिहास की घटनाओं को भी अतिमानवीय परिधान दे देते थे जिससे यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि इसमें कितना अंश इतिहास का है और कितना कल्पना का। पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया, बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथानायक बनाने की प्रवृत्ति रही है। कुछ में दैवी शक्ति का आरोप कर पौराणिक बना दिया गया है, जैसे राम, कृष्ण, बुद्ध आदि और कुछ में काल्पनिक रोमांस का आरोप कर के निजंधरी कथाओं का आश्रय बना दिया गया है—जैसे उदयन, विक्रमादित्य और हाल।

वस्तुतः ऐतिहासिक काव्यों का उदय सामन्तवाद की देन है। भारत में भी ईसा की दूसरी शताब्दी से ही राजस्तुतिपरक रचनाओं का निर्माण शुरू हो गया था। मैक्समूलर ने ईसा की पहली से तीसरी तक के काल को अँधेरा युग कहा है; क्योंकि उनको इन शताब्दियों में अच्छे काव्य का अभाव दिखाई पड़ा। मैक्समूलर के मत के विरोध में डॉ० क्यूलर ने कहा कि इस काल में अत्यन्त सुन्दर स्तुति काव्यों की रचना होती थी, अभाग्यवश हमें कोई वैसा काव्य नहीं मिल सका है किन्तु शक क्षत्रप रुद्रदामन का गिरनार का शिलालेख (ई० १५०), कविवर हरिषेण की लिखी प्रशस्ति (समुद्रगुप्त, ३५० ई०) जिसमें समुद्रगुप्त के दिग्विजय का बड़ा ही ओजस्वी वर्णन किया गया है तथा ईस्वी सन् ४७३ ईस्वी में लिखी वत्सभट्टि की मन्दसोर की प्रशस्ति इस प्रकार की स्तुतिपरक ऐतिहासिक रचनाओं की ओर संकेत करती हैं। कवि वत्सभट्टि ने चालीस श्लोकों में जो मनोरम प्रशस्ति प्रस्तुत की है वह महत्वपूर्ण लघु काव्य है, जिसमें भाव, भाषा सभी कुछ उत्कृष्ट रूप में दिखाई पड़ते हैं। फिर भी इतना तो सत्य है कि बाणभट्ट के हर्षचरित के पहले इस प्रकार के स्तुतिपरक ऐतिहासिक काव्यों का कोई सन्धान नहीं मिलता। हर्षचरित को भी वास्तविक अर्थ में काव्य नहीं कह सकते, वह आख्यायिका है। संस्कृतब

सका से पहला ऐतिहासिक काव्य पद्मगुप्त परिमल का लिखा नवसाहसाङ्कचरित (१००५ ई०) है जिसमें धारानरेश भोजराज के पिता सिन्धुराज और शशिप्रभा नामक राजकुमारीके विवाह की कथा वर्णित है। चालुक्यवंशी नरेन्द्र विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६--११२७ ई०) के सभा कवि बिल्हण ने 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में अपने आश्रमदाता के चरित्र तथा उसके वंश का वर्णन किया है। इसके बाद तो ऐतिहासिक काव्यों की एक परम्परा हो चल पड़ी और चरित्र, विजय, विलास, आदि नामों से कई ऐतिहासिक काव्य लिखे गए, जिनमें कल्हण की राजतरंगिणी (१०५० ई०), हेमचन्द्र का कुमारपाल चरित (१०८९ ई० ११७३ ई०), वस्तुपाल के सभा कवि सोमेश्वर की कोर्तिकौमुदी (११७९-१२६२), अरिसिंह का सुकृत संकीर्तन (वस्तुपाल) आदि महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। दो सौ वर्ष पीछे चन्द्रसूरि ने चौदह सदी में 'हम्मीरमहाकाव्य' लिखा तथा १६वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में अकबर के सामन्त राजा सुरजन की प्रशंसा में गौड़देशीय कवि चन्द्रशेखर ने 'सुरजन चरित' की रचना की। इसी तरह विजयनगर के नरेशों की प्रशंसा में राजनाथ डिंडिम ने 'अच्युतरामाभ्युदय' तथा कम्पराय की रानी गंगा देवी ने अपने पति की प्रशंसा में 'मधुराविजय' का प्रणयन किया। जयानक का लिखा 'पृथ्वीराज विजय' की भी एक अधूरी प्रति मिली है। जो ओझा जी द्वारा सम्पादित होकर अजमेर में प्रकाशित हुई है।

संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों की यह परंपरा थोड़ी-बहुत परिवर्तित रूप में प्राकृत और अपभ्रंश में भी दिखाई पड़ती है। यशोवर्मा के सभापंडित वाक्पतिराज का गउडवहो अपनी शैली के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है। अपभ्रश के रासो ग्रन्थ भी एक प्रकार के ऐतिहासिक काव्य हो हैं यद्यपि इनमे कल्पना का रंग ज्यादा गाढ़ा है।

कीर्तिलता भी एक ऐतिहासिक काव्य है। कवि विद्यापति ने अपन आश्रयदाता कीर्तिसिंह की कीर्ति को प्रोज्ज्वल करने के लिए इस काव्य की रचना की। यह एक चरित-काव्य है।

राय रचित रसालु यहु णाह न राखहिं गोइ
कवन वंस को राय सो कीत्तिसिंह को होइ

भृंगी के इस प्रश्न पर भृंग ने कीर्तिसिंह के चरित्र का उद्घाटन किया। कीर्तिलता एक छोटी-सी रचना है इसलिए इसमें चरित काव्यों की तमाम प्रवृत्तियों का मिलना कठिन है। मध्यकालीन चरित काव्यों में कथानक रूढ़ियों का मुख्य स्थान है। इस प्रकार की कथानक रूढ़ियों में एकाध ही कीर्तिलता में मिलती है। उदाहरण के लिए कीर्तिलता संवाद-पद्धति पर लिखी गई है, भृगी शंका करती है, भृंग उसका उत्तर देता है। रासो के शुक-शुकी सम्वाद की तरह यह भी संवाद है; किन्तु यहाँ भृंग-भृंगी वक्ता-श्रोता के रूप मे ही बने रहते हैं, नायक की आपद-विपद में सहायता करने के लिए दौड़ते नहीं। इस प्रकार यद्यपि विद्यापति मे बहुत कुछ प्रचलित रूढ़ि का सहारा लिया है किन्तु उसे खींच कर अस्वाभाविकता की सीमा तक ले जाना स्वीकार नहीं किया।

मध्यकाल के तमाम चरित काव्यों मे कीर्तिलता का स्थान इसीलिए विशिष्ट है कि लेखक ने कल्पना और अतिरंजना का कम से कम सहारा लिया है। ऐतिहासिक घटनाओं की यथातथ्यता के प्रति जितना सतर्क विद्यापति दिखाई पड़ते हैं, उतना उस काल का दूसरा कोई कवि नहीं। ऐसा नहीं कि उन्होंने नायक की युद्ध-वीरता आदि के वर्णन मे अतिरंजना का सहारा लिया ही नहीं है, लिया है और खूब लिया है, किन्तु कथा के नियोग में अस्वाभाविक घटनाओं का कहीं भी समावेश नहीं किया गया है। केवल रूढ़ियों के निर्वाह के लिए या पाठकों को कथा-रस का आनन्द देने के लिए अवान्तर घटनाओ, प्रेम-व्यापार, भूत-परियों, आदि को इसमे कहीं भी स्थान नहीं है। चरित-काव्यों की तरह इसमे भी आरंभ मे, सज्जन-प्रशंसा और खल-निन्दा के रूप कुछ पंक्तियाँ दी गई हैं :

सुअण पसंसइ कब्ब मझु दुज्ज बोलइ मन्द
अवसओ विसहर विस बमइ अमिअ विमुक्कइ चन्द

सज्जन पुरुष चन्द्रमा की तरह हैं जो अमृत-वषण करते हैं किन्तु खल तो विषधर है उनका काम ही विष-वमन करना है; किन्तु :

बालचन्द विद्यावइ भाषा
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा
ओ परमेसर हर सिर सोहइ
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ

कवि को अपनी प्रतिभा पर अटूट विश्वास है, वह जानता है कि द्वितीया के निष्कलंक चन्द्रमा पर दुर्जन का उपहास नहीं लग सकता वह तो शंकर के मस्तक पर सुशोभित होगा ही।

खल-निन्दा और सज्जन-प्रशंसा आदि की परिपाटी पूर्ववर्ती काव्यों में तो है ही तुलसी के मानस आदि परवर्ती काव्यों में भी दिखाई पड़ती है। चरित काव्यों में मुख्य रूप से आखेट, प्रेम और युद्ध का वर्णन होता है। कीर्तिलता में अधिकांश युद्ध या युद्ध के लिए उद्योग का हो वर्णन हुआ है। द्विवेदी जी का अनुमान है कि सम्भवतः कोति-पताका मे प्रेम-आखेट आदि का वर्णन हुआ है। उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता; यद्यपि पुस्तक में कुछ प्रारम्भिक पन्ने जो प्राप्त हैं इसी बात की ओर संकेत करते हैं। उनमें युद्ध की भूमिका नहीं शान्ति की भूमिका दिखाई पड़ती है।

मध्यकालीन साहित्य में वृत्तान्त-कथन की दूसरो शैली कहानी या आख्यायिका की है। कीर्तिलता को लेखक ने 'कहाणी' कहा है।

पुरिस कहाणी हओ कहओ जसु पत्थावे पुन्न
सुक्ख सुभोअण सुमवअण देवहा जाइ सपुन्न

मैं उस पुरुष को कहानी कहता हूँ जिसके प्रस्ताव से पुण्य होता है, सुख, सुभोजन, शुभवचन और स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

लेखक ने इसे कहानी ही नहीं कहा है; बल्कि आख्यानों के अन्त में दिए महात्म्य की तरह इस कहानी के सुनने के फायदे भी बताए गए हैं।

आजकल कथा, कहानी, आख्यायिका का प्रयोग हम सदृशार्थक शब्दों की तरह करते हैं। किन्तु मध्यकाल में इनके अर्थ में अन्तर था। कथा शब्द का प्रयोग प्राचीन साहित्य में अलंकृत काव्यरूप के लिए भी होता था। वैसे कोई भी कहानी या सरस वृत्तान्त कथा है; किन्तु इस शब्द के

अन्दर एक खास प्रकार के काव्य रूप का भी अर्थ नियोजित मालूम होता है। काव्यालंकार के रचयिता भामह ने सरस गद्य में लिखी हुई कहानी को आख्यायिका कहा है। भामह ने यह भी कहा कि आख्यायिका के दो प्रकार होते है, आख्यायिका और कथा। आख्यायिका गद्य में होती थी और इसे नायक स्वयं कहता था जब कि कथा को कोई भी कह सकता था। आख्यायिका उच्छ्वासों में विभक्त होती थी और उसमें वक्त्र और उपवक्त्र छन्द होते थे किन्तु कथा में इस तरह का कोई नियम न था। दण्डी ने इसका अन्तर इस प्रकार समझाया है :

अपादः पादसन्तानो गद्यमाख्यायिकाकथा
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल
नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा
स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्र भूतार्थशंसिनः
अपित्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्
वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छ्वासं चापि भेदकम्
चिह्नमाख्यायिकायाश्चेत् प्रसंगेन कथास्वपि
(काव्यादर्श, १।२३।२८)

संस्कृत के आचार्यों की दृष्टि से आख्यायिका और कथा गद्य में लिखी जानी चाहिएँ किन्तु अपभ्रंश या प्राकृत में इस तरह का कोई बन्धन न था। इसी से संस्कृतेतर इन भाषाओं में कथायें प्रायः पद्य में लिखी ही मिलती हैं। इन कथाओं को चरित काव्य भी कहा गया है। अपभ्रंश भाषा के चरित काव्यों में गद्य का एक प्रकार से प्रभाव दिखाई पड़ता है। कुछ ग्रंथ अवश्य इसके अपवाद भी हैं। सम्भव है कि संस्कृत की पद्धति पर कुछ लेखकों ने पद्य-गद्य दोनों में अर्थात् चम्पू काव्य में कथाएँ लिखीं।

जो हो प्रचलित चरित काव्यों में कीर्तिलता इस अर्थ में थोड़ी भिन्न है और उसमें गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। और कथा काव्य की तरह विद्यापति ने भी इस रचना के गद्य खण्डों को भी काफी सरस अलंकृत बनाने का प्रयत्न किया है। कथा काव्यों में राज्यलाभ, कन्याहरण, गन्धर्व

विवाहों की प्रधानता रहती है; किन्तु कीर्तिलता में केवल राज्यलाभ का ही वृत्तान्त दिया गया है। इस तरह कीर्तिलता में कथा-काव्य के कई लक्षण नहीं भी मिलते। इसी आधार पर द्विवेदी जी का कहना है कि विद्यापति ने जानबूझ कर कीर्तिलता को कथा न कहकर 'कहाणी' कहा है।

इस प्रकार हमने देखा कि एक ओर कीर्तिलता मध्यकालीन चरितकाव्यों या ऐतिहासिक किंवा अर्ध-ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा में गिनी जाती है दूसरी ओर इनमें 'कथा' का भी रूप न्यूनाधिक रूप में पाया जाता है। वस्तुतः कीर्तिलता में मध्यकालीन काव्यों की कई विशेषताएँ, नगर वर्णन, युद्ध वर्णन आदि के प्रसंग में दिखाई पड़ती हैं। कवि ने इसमें समयानुकूल वर्णन की दृष्टि से छन्दों का भी उचित प्रयोग किया है, साथ ही अपभ्रंश काव्यों की रूढ़ियाँ, कवि-समय आदि भी इसमें सहज रूप से प्राप्त होते हैं।

कीर्तिलता काव्य जैसा कहा गया है कीर्तिसिंह के जीवन के एक हिस्से यानी युद्ध और राज्यलाभ के प्रसंगों को लेकर लिखा गया है। लक्ष्मण-सम्बत् २५२ मे (ईस्वी सन् १३७१ के आस-पास) राजलोभी मलिक असलान से तिरहुत के राजा गणेश्वर का धोखे मे वध कर दिया। राजा के वध से तिरहुत की हालत अत्यन्त खराब हो गई। चारों ओर अराजकता फैल गई। कवि ने इस अवस्था का बहुत ही यथार्थ चित्रण उपस्थित किया है:

ठाकुर ठक भए गेल चोरें चप्परि घर लिज्झिअ
दास गोसाञुनि गहिअ धम्म गए धन्ध निमज्जिअ
खले सज्जन परभविअ कोइ नहि होइ विचारक
जाति अजाति विवाह अधम उत्तम कौं पारक
अक्खर रस बुज्झनिहार नहि कइकुल भमि भिक्खारि भउँ
तिरहुत्ति तिरोहिल सब्ब गुणे रा गणेश जबे सग्ग गउँ

राजा के वध के बाद विश्वासघाती असलान को परिताप हुआ, उसने गणेश्वर का राज्य उनके पुत्र को दे देना चाहा; किन्तु पिता के हत्यारे और अपने शत्रु द्वारा समर्पित राज्य को कीर्तिसिंह ने स्वीकार नहीं किया। वे अपने भाई वीरसिंह के साथ जौनपुर के सुलतान इब्राहीम शाह के पास,

चले। बड़ी कठिनाई से, दोनों भाई जौनपुर पहुँचे। जौनपुर क्या था लक्ष्मी का विश्रामस्थान और आँखों के लिए अत्यन्त प्रिय था। कवि विद्यापति ने जौनपुर का बड़ा ही भव्य वर्णन किया है। बाग-बगीचे, मकान, रास्ते, रहट घाट पुष्करिणी, संक्रम, सोपान और हजारों श्वेत ध्वजों से मंडित स्वर्ण कलश वाले शिवालयों के विशद वर्णन से कवि ने नगर को साकार रूप दे दिया है। यही नहीं, उन्होंने नगर की बारीक-बारीक बातों का ब्योरेवार वर्णन उपस्थित किया है। गलियों में कर्पूर, कुंकुम, सौगन्धिक, चामर, कज्जल, आदि बेचे जा रहे थे। काँस्य के व्यापारियों की वीथी के साथ ही जो बर्तन गढ़ने की 'क्रेंकार' ध्वनि से गूँजती रहती थी, मछहटा, पनहटा आदि बाजार के हिस्सों का भी सूक्ष्म चित्रण हुआ है। नगर के चौड़े-चौड़े रास्तों का जनसंमर्द लगता था जैसे मर्यादा छोड़कर समुद्र उमड़ पड़ा हो।

नगर का वर्णन विद्यापति की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। तत्पश्चात् विद्यापति ने मुसलमानों के रहन-सहन का बड़ा ही यथार्थ चित्रण किया है। उनकी आँख के सामने से कोई भी चीज छूट कर बच नहीं सकी। विद्यापति के मन में इनके प्रति सहज विरक्ति है, इनके वर्णन में भी कहीं-कहीं उनके मन का क्षोभ व्यक्त हो जाता है। खासतौर से उनकी गन्दी आदतें—शराब, कबाब, प्याज का उन्होंने थोड़ा घृणा-युक्त वर्णन किया है। विद्यापति के शब्दों में एक राजकर्मचारी तुर्क का स्वरूप देखिए :

अति गह सुमर षोदाए खाए ले भाँग क गुण्डा
बिनु कारणहि कोहाए वएन तातल तम कुण्डा
तुरक तोषारहिं चलल हाट भमि हेडा चाहइ
आडी दीठि निहार दवलि दाढ़ी थुक वाहइ

अंतिम पंक्तियों में तो तुर्क की उन्होंने दुर्दशा ही कर दी है जो घोड़े पर सवार होकर बाजार में घूम कर हेडा (कर या गोश्त) माँगता है, क्रुद्ध दृष्टि से देखकर दौड़ता है तो उसकी दाढ़ी से थूक बहने लगता है।

उस प्रकार के क्रूर शासनकाल में एक संस्कारी हिन्दू के मन की ग्लानि का स्वरूप देखिए :

धरि आनए वाभन वटुआ, मथा चढ़ावए गाइक चुड़ुआ
फोट चाट जनेऊ तोर, उपर चढ़ावए चाह घोर
धोआ उरिधाने मदिरा साँध, देउर भाँगि मसीद बाँध
गोरि गोमर पुरिल मही, पएरहु देना एक ठाम नहीं
हिन्दुहिं गोट्टओ गिलिए हल तुरुक देखि होए भान
अइसेओ जसु परतापे रहु चिर जीवहु सुलतान

वाभन-वटुक को पकड़ लाता है और उसके माथे पर गाय का शुरुवा रख देता है। चन्दन का तिलक चाट जाता है, माथे पर घोड़ा चढ़ा देना चाहता है। धोए नीवार-धान से मदिरा बनाता है और देवालय तोड़कर मस्जिद खड़ी करता है। कब्रों और कसाइयों से धरती पट गई है, पैर देने की भी जगह नहीं। तुर्कों को देखने से लगता था कि हिन्दुओं को पूरा-पूरा चबा जायेंगे—फिर भी जिस सुलतान के प्रताप में ऐसा होता था, वे चिरजीवी हों।

जिस सुलतान के पास विद्यापति के आश्रयदाता कीर्तिसिंह सहायता माँगने गए थे, इसी सुल्तान के राज्य में यह सब कुछ होता था। लक्खनसेन ने भी तत्कालीन परिस्थिति का बड़ा मजेदार वर्णन किया है :

मोंदु महंथ जे लागे काना, काज छाँड़ि अकाजै जाना
कपटी लोग सब भे धरमाधी, घोट वइदि नहिं चिन्है बियाधी
कुंजर बाँधे भूखन मरई, आदर सो पर सेइ चराई
चंदन काटि करील ले लावा, आँव काटि बबूर बोआवा
कोकिल हंस मँजारहि मारी, बहुत जतन कागहि प्रतिपारी
सारीव पंख उपारि पालै तमचुर जग संसार
लखनसेनि ताहने बसे काढ़ि जो खाँहि उधार

(इब्राहिमशाह का समय, लखनसेनि, हरिचरित्र, विराटपर्व अप्रकाशित)
गणेश्वर की मृत्यु हो जाने पर विद्यापति ने भी ऐसा ही वर्णन किया है। लखनसेनि भी अन्त में अपना क्षोभ रोक नहीं पाता। कहता है कि सारिकाओं की पाँखें उखाड़ते हैं और घरों में मुर्गियाँ पालते हैं।

इब्राहिमशाह जिसके द्वार पर संसार भर के राजे प्रणिपात करते हैं और वर्षों दर्शन नहीं पाते, दोनों भाइयों पर कृपा करता है और अलसान को पकड़ने के लिए सेना लेकर चलता है। किन्तु कारणवश सेना जो पूरब के लिए चली थी पश्चिम की ओर बढ़ जाती है, उस समय दोनों राजकुमारों की दशा का बहुत ही हृदय द्रावक चित्रण कवि उपस्थित करता है :

सम्बर निरवल, किरिस तनु, अम्बर भेल पुराण
जवन सभावहिं निक्करुण तौ न सुमरु सुरतान

विदेश मे ऋण भी नहीं मिलता, मानधनी भीख भी कैसे माँग सकता है, राजा के घर जन्म हुआ, दीनता भरे बचन भी कैसे निकलें :

सेविअ सामि निसंक भए दैव न पुरवए आस
अहह महत्तर किं करउँ गण्डओ गणिअ उपास

मित्र सहायता नहीं करता, भूख के कारण भृत्यों ने साथ छोड़ दिया, घोड़ों को घास नहीं मिलती, इस तरह अत्यन्त दु:ख की अवस्था मे वे दिन बिताते रहे।

किन्तु एक दिन अचानक आशा फलवती हुई, सेना को तिरहुति की ओर मुड़ने की आज्ञा हुई। कीर्त्तिसिंह के साथ ही विद्यापति कवि भी आनन्द से गा उठे :

फलिअउ साहस कम्मतरु सन्नगह फरमान
पुहुवी तासु असक्क की जसु पसन्न सुरतान

कीर्तिसिंह के साथ सेना चली। उस समय संसार भर में कोलाहल मच गया, सेना के घोड़ों पर दृष्टि डालिए :

अनेक वाजि तेजि-ताजि साजि साजि आनिआ
परक्कमेँहि जासु नाम दीप-दीपे जानिआ
विसाल कन्ध, चारु वन्ध, सत्तिरूअ सोहणा
तलप्प हाथिं लाँघि जाथि सत्तु सेण खोहणा
सुजाति सुद्ध, कोहे कुद्ध, तोरि धाव कन्धरा
विसुद्ध दापे, मार टापे चूरि जा वसुन्धरा

इस तरह के दर्प से भरे घोड़े उस सेना में चले, राजधानी के पास दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हो गई। तलवारे बज उठीं, कीर्तिसिंह की तलवार जिधर पड़ती उधर ही रुण्ड-मुण्ड दिखाई पड़ते। अन्तरिक्ष में अप्सरायें श्रम-परिहार के लिए अञ्चल से व्यजन कर रही थीं, स्वर्ग से पारिजात-सुमनों की वृष्टि हो रही थी। अलसान पकड़ा गया, किन्तु कीर्तिसिंह ने उसे भागते देख जीवन-दान दे दिया। इस तरह तिरहुत्ति का राज्य पुनः सनाथ हुआ।

इस प्रकार विद्यापति के इस काव्य में यथार्थ एक नवीन सौन्दर्य लेकर उपस्थित हुआ है। उन्होंने एक ओर जहाँ कीर्तिसिंह के वीरता भरे व्यक्तित्व का दर्प दर्शाया है वहीं उनकी दुरवस्था का भी चित्रण किया है। यही नहीं विद्यापति के इस कौशल के कारण कीर्तिसिंह निजंधरी कथाओं के नायकों से भिन्न कोटि के वास्तविक जीवन्त पुरुष मालूम होते हैं। विद्यापति के इस चरित्र-चित्रण की मूर्तिमत्ता की ओर संकेत करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है कि कवि की लेखनी चित्रकार की उस तूलिका के समान नहीं है जो छाया और आलोक के सामञ्जस्य से चित्रों को ग्राह्य बनाता है; बल्कि उस शिल्पी के टाँकी के समान है जो मूर्तियों को भित्तिगात्र में उभार देता है, हम उत्कीर्ण मूर्ति की ऊँचाई-नीचाई का पूरा-पूरा अनुभव करते हैं।" इतना ही नहीं विद्यापति की लेखनी में स्वरकार का वह जादू भी है कि इन मूर्तिवत् चित्रों को सजीव कर देता है, हम वेश्या के नूपुरों की छमक के साथ ही युद्धभूमि के पटह-तूर्य की गगनभेदी आवाज भी सुन पाते हैं। काव्य कौशल की दृष्टि से विद्यापति का कोई प्रतिमान नहीं। उनके द्वारा प्रयुक्त अलंकारों में एक सुरुचि दिखाई पड़ती है। वेश्याओं के काले-काले केश में श्वेत पुष्प गुंथे हुए हैं, कवि कहता है मानों मान्य लोगों के मुख चन्द्र की चन्द्रिका की अधोगति देखकर अन्धकार हँस रहा हो :

तन्हि केस कुसुम वस, जनि मान्य जनक लज्जावलंबित मुखचंद्र चन्द्रिका करि अधओ गति देखि अन्धकार हस। नयनाञ्चल संचारे भ्रूलता भंग, जनि कज्जल कल्लोलिनि करि वीचिविवर्त्त बड़ी बड़ी सफरी तरंग।

कीर्तिलता के विषय में अधिक विस्तृत जानकारी के लिए लेखक की पुस्तक 'कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा' देखी जा सकती है।

संदर्भ-ग्रंथ-सूची

हिन्दी-संस्कृत

१. अलंकार शेखर	केशव मिश्र कृत, सम्पादक शिवदत्त, बम्बई, १९५६ ई०
२. उज्ज्वल नीलमणि	रूप गोस्वामी
३. कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा	शिवप्रसाद सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, द्वितीय संस्करण, १९६४, वाराणसी
४. केशव ग्रंथावली	सम्पादक : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग
५. गाथा सतसई	हालकृत
६. गीतगोविन्द काव्यम्	जयदेव कृत, गंगेश रामकृष्ण तैलंग द्वारा सम्पादित
७. चिन्तामणि, दूसरा भाग	रामचन्द्र शुक्ल, काशी, सम्वत् २००२
८. प्राकृत व्याकरण	हेमचन्द्र कृत, सम्पादक पी० एल० वैद्य, बम्बई
९. प्राकृतपैंगलम्	सम्पादक मनमोहन घोष, १९०२ ई०
१०. प्राचीन गुर्जर काव्य	गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, नम्बर १३
११. महाकवि विद्यापति	शिवनन्दन ठाकुर, लहरिया सराय, पटना
१२. रागतरंगिणी	लोचन कवि कृत
१३. मध्यकालीन धर्म साधना	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रयाग
१४. विद्यापति पदावली	रामवृक्ष बेनीपुरी, लहरियासराय, पटना
१५. विद्यापति	श्री जनार्दन मिश्र

१६. विद्यापति — श्री खगेन्द्रनाथ मित्र और डॉ० विमानविहारी मजूमदार द्वारा सम्पादित, हिन्दी संस्करण, पटना, सम्वत् २०१०

१७. विद्यापति ठाकुर — डॉ० उमेश मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद १९३७ ई०

१८. सूर साहित्य — डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नवीन संस्करण, बम्बई, १९५६ ई०

१९. सूर सागर — नागरी प्रचारिणी सभा, सम्वत् २००७

२०. हिन्दी साहित्य का इतिहास — रामचन्द्र शुक्ल, छठां संस्करण, काशी

२१. हिंदी साहित्य का आदिकाल — डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पटना, १९५४ ई०

२२. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास — डॉ० रामकुमार वर्मा, संशोधित संस्करण, १९५४ ई०

२३. हिन्दी काव्य धारा — राहुल सांकृत्यायन, प्रयाग, १९५४ ई०

२४. श्री राधा का क्रम-विकास — डॉ० शशिभूषण दास गुप्त, हिन्दी संस्करण, काशी, १९५६ ई०

बंगला

२५. कीर्तिलता, — हरप्रसाद शास्त्री, कलकत्ता

२६. चैतन्य चरितामृत — श्री कृष्णदास कविराज

२७. बंग भाषा उ साहित्य — दिनेशचंद्र सेन

२८. मध्ययुगेर साधना — क्षितिमोहन सेन

२९. विद्यापति पदावली — प्रमूल्य विद्याभूषण और खगेन्द्रनाथ मित्र—सम्पादित

३०. विद्यापति पदावली — नगेंद्रनाथ गुप्त, १३१६ वंगाब्द

English

31. Maithili Chrestomathy : G. A. Grierson, Asiatic Society 1881

32. Defense of Poetry : Shelley

33. Method and Materials of literary Criticism : Galley

34. Love in Hindu literature : B. K. Sarkar, 1916

35. Songs of Vidyapati : Subharda Jha, Banaras, 1954

36. Dictionary of world literary terms : Joseph T. Shipley, London

[इस संक्षिप्त सूची में केवल अत्यावश्यक ग्रन्थों का ही परिचय दिया गया है, अन्य ग्रन्थों के प्रकाशन आदि के विषय में यथास्थान पाद-टिप्पणियों में आवश्यक सूचनायें दे दी गई हैं।]